****

कविताएँ

१९५४



संचयन तथा संपादन

अजितकुमार : देवीशंकर अवस्थी

परामर्श

गिरिजाकुमार माथुर : बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

प्रकाशक

साहित्य निकेतन, कानपुर

****

प्रकाशक :
साहित्य निकेतन,
श्रद्धानन्द पार्क
कानपुर

प्रथम संस्करण : १९५५
मूल्य : पौने तीन रुपये

मुद्रक :
श्री प्रेमचन्द मेहरा,
न्यू ईरा प्रेस,
इलाहाबाद

प्रचार और विज्ञापन

के इस युग में भी बहुधा अनुभव होता है कि बहुत कुछ 'अनदेखा' ही रहा जाता है। बहुत सी चित्र-विचित्र सृष्टि हमसे अपरिचित रहकर ही बीती जा रही है। क्योंकि देश विशाल है और काल की गति अत्यंत क्षिप्र। जहाँ और जितना भी कुछ हो रहा है, उसे आत्मस्थ करने के साधन कम हैं और सुविधाएँ उनसे भी कम।

किन्तु, तत्वज्ञानी इस सबसे विचलित नहीं होते, उनकी दृष्टि तत्व पर केन्द्रित रहती है। वे खड़ी हुई लहलहाती फ़सल देखकर ही हर्षित नहीं हो जाते वरन् अनुमान लगाते हैं कि इसमें धान्य कितना है, सार कितना है? साहित्य का अध्येता भी कदाचित् तत्व का अध्येता ही है सो उसके सम्मुख भी आज इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं बचा है कि वह समस्त बहुरंगिणी सृष्टि में से महत्वपूर्ण को पहचानने का यत्न करे। प्रस्तुत संकलन भी इसी प्रकार का एक प्रयत्न है। इसमें १९५४ की प्रतिनिधि और श्रेष्ठ हिन्दी कविताएँ संग्रहीत हैं।

पहले तो जाना और सोचा न था पर अब पाते हैं कि पुस्तक में खासी कविताएँ एकत्र हैं। उनके रंग-ढंग की विविधता और अनेकरूपता दृष्टव्य है। स्पष्ट कि ऐसे किसी संकलन में एकरूपता ले आना संभव और कदाचित् वांछित भी न था। किन्तु, आप स्वयं अनुभव करेंगे कि इसमें 'एकरूपता का नितान्त अभाव' हो, ऐसा भी नहीं है। व्याकुलता, सृजन की उत्कंठा, संघर्ष और स्थित विश्वास सारी कविताओं में व्याप्त-जैसे हैं। हिन्दी कविता बल्कि हिन्दी साहित्य का सारा कृतित्व आज-दिन जैसे इन्हीं विषयों को लेकर कृतकृत्य हो रहा है। ऐसा उद्योग निर्विवाद रूप से किसी भी साहित्य के इतिहास में एक महान् क्रान्ति का पूर्वाभास है।

यह 'महान् क्रान्ति' क्या है ? यह क्यों होगी ? ये प्रश्न आपसे छिपे नहीं हैं। ये तो सब पर उजागर हैं। लेकिन इनके उत्तर ? इनके समाधान ? काश ! वे भी हमारे सम्मुख होते, स्पष्ट होते।

हिन्दी की वर्त्तमान कविता ऐसे ही प्रश्नों का उत्तर खोजने में व्यस्त है। ऐसा कुछ है जो हमें आंदोलित किए है, जो हमें ज्ञात नहीं है: उसी का अन्वेषण करना है। रोग हमें कुछ न कुछ अवश्य मालूम है, उपचार शेष है।

और यहीं उठ खड़ी होनेवाली बहस हमें मूल समस्या से भटका देती है। रोग है : सभी मानते हैं; उपचार करना है : इसमें भी किसी को आपत्ति नहीं; किन्तु निदान ? निदान सबका अलग-अलग है। एक इसे व्यक्ति की व्याधि बताता है, दूसरा राज्य की, तीसरा उपचार में संलग्न है और चौथा सबको रोगमुक्त कर चुका है। फिर बात उलझती-उलझती बिलकुल उलझ जाती है। अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग की स्थिति आ उपस्थित होती है।

करें क्या ? अन्य उपाय ही क्या है ? उपाय तो सरल है। संप्रति परिस्थिति यह है कि साहित्य का विचित्र क्षेत्रीय विकास हो रहा है। साहित्यकार प्रांतों, नगरों और गोष्ठियों में बिखरे हुए हैं। अपने-अपने गुट हैं, अपने-अपने नारे हैं। फलतः सभी के माध्यम से संकीर्णता का प्रचार हो रहा है। व्यक्तिगत राग-द्वेष साहित्यिक आलोचना को प्रभावित करते हैं और अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ प्रांतीयता का प्रचार-प्रसार करने में दत्तचित्त हैं।

इतने बड़े देश में, हिन्दी के इतने विशाल क्षेत्र में ऐसी स्थिति का होना सहज-स्वाभाविक भी है। क्षेत्रीय विकास और स्थानीय रंग की भावना बुरी नहीं पर इस सबके मूल में स्थित मनोवृत्ति दूषित है, इसे तो सभी मानेंगे।

इतना ही नहीं आलोचकों-रचनाकारों के इस दुराग्रह के साथ

पाठकों में भी यही धारणा बलवती होती जाती है कि यह युग कविता-युग नहीं रहा। हम इन सभी बातों का विरोध करते हैं।

हमें ज्ञात है कि वर्तमान स्थिति बहुत दिनों चलनेवाली नहीं है। नवनिर्माण के पथ में आनेवाली ये बाधाएँ नगण्य हैं। दिनोंदिन साहित्य का व्यापक स्वरूप सबके सम्मुख आता-जाता है। इस सहज विकास की प्रक्रिया में हम सबका कर्त्तव्य तो मात्र इतना रह जाता है कि प्रत्येक की बात प्रत्येक तक पहुँचने दें, पहुँचाने में सहायता दें। विराट् सत्य हमारे शत-सहस्र कंठों से संवहित होता हुआ भूमंडल में व्याप जाय। प्रस्तुत संग्रह इसी महान् प्रक्रिया की एक नन्हीं कड़ी है। इसके माध्यम से हमने चाहा है कि हिन्दी कविता की वार्षिक प्रगति का एक लेखा-जोखा रखा जाय। आप स्वीकार करेंगे कि ऐसी योजना की जैसी तथा जितनी आवश्यकता आज है वैसी पहले कभी भी न थी।

आज हम अपनी प्रक्रियाओं से अधिकाधिक परिचित हैं, उनके प्रति सजग भी हैं। घटित होता हुआ जो कुछ भी हमारी चेतना की पकड़ में आता है उसे असंख्य रूपों में अभिव्यक्ति देना चाहते हैं। घटित होते हुए वर्तमान का इतना सक्रिय और उत्पादक बोध पूर्व काल में कदाचित् कभी नहीं था। अभिव्यक्ति के असंख्य प्रयत्नों में से कुछ को चुनने की सार्थकता इसी कारण आज और भी स्पष्ट है। श्रेष्ठ, चुनी हुई, प्रतिनिधि कृतियों के विविध संग्रह ग्रंथों की यही उपयोगिता है।

उपयोगिता ? किसके लिए ?

जहाँ तक प्रस्तुत संकलन का संबंध है, हम कहेंगे—'पाठक के लिए।' क्योंकि उसकी सारी समस्या रसास्वादन की समस्या है। पिछले युगों के जिस साहित्य का रसास्वाद करके आज का पाठक विभोर है, उसका अधिकांश ऐसा संकलित उत्कृष्ट और चुना हुआ साहित्य है जो अपने युग की सीमाओं तथा हीन कलाकृतियों को संक्रमित करता हुआ हम तक आ पहुँचा है। विकास की इस प्रक्रिया को गत्यात्मक बनाने के लिए गतिरोध की भ्रांत धारणा को और भी अधिक भ्रांत सिद्ध करने

के लिए रुचि को परिष्कृत करने के लिए ऐसे संग्रहों को उपयोगिता स्वयं सिद्ध है।

हम फिर कहेंगे कि इस संग्रह की उपयोगिता समीक्षक के लिए है, कवि के लिए भी है। रसज्ञ समीक्षक अपनी रसानुभूति को अधिकाधिक व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित करने में सुख पाते हैं और कवि अपने युगीन और अतीतकालीन कलाकारों के परिपार्श्व में खड़े होकर अपने-उनके कृतित्व का समर्थ ज्ञान चाहते ही हैं। हमारा अनुमान है कि 'कविताएँ १९५४' जैसी पुस्तकों से इस प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

यह संकलन हम उस समय आपको सौंप रहे हैं जब १९५४ की कविता पर विवाद लगभग समाप्त हो गए हैं। समीक्षाएँ लिखी जा चुकी हैं और 'उत्तरदायित्व पूरा हुआ' जैसा मान लिया गया है। बस इसके पश्चात् गत वर्ष की कविता समय की पुस्तक का वह पृष्ठ हो गई जो एक बार पढ़ा जा चुका और शायद फिर दुहराया न जायगा।

यह सच है कि 'बीते हुए कल' का आकलन करने को 'आज' से अधिक उपयुक्त कोई दूसरा दिन न आयेगा किंतु 'बीता हुआ कल' मात्र 'बीता हुआ कल' ही है इसे दृढ़तापूर्वक कह सकें ऐसे कितने हैं? अतः 'आज' के क्षण में सारे व्यतीत अपितु सनातन को कोई बाँधना चाहे, आज के 'अणु' में सदा के विराट को दृष्टिगत करना चाहे तो हमें ज्ञात है कि इसे सुधीजन मतिभ्रम नहीं कहते।

तो सन् पचपन के प्रारंभ में सन् चौवन की कविता का आकलन करते समय यदि हमारे सम्मुख यह स्पष्ट था कि इससे पूर्व यह कार्य संपादित होना संभव न था, तो यह भी छिपा हुआ नहीं था कि इसके बाद यह कार्य समाप्त न हो जायगा। एक वाक्य में कहें कि हमें सन् चौवन की कविता मात्र सन् चौवन की कविता नहीं जान पड़ी, वरन् समस्त समसामयिक हिंदी कविता का प्रतिनिधित्व करती सी लगी और इसी लिए हमने चाहा कि वह संकलन तैयार हो जिसे भले ही कहा 'सन्

१९५४ की कविताएँ" जाए किंतु जो खड़ी बोली की समग्र कविता का लघु और संक्षिप्त संस्करण-जैसा दिखे तथा ऐसा दिखते हुए भी वह आधुनिक हो, नया हो।

जब यह संग्रह तैयार हो गया तो मानो हमने पुनः नए विश्वास के साथ यह सत्य अन्वेषित किया कि हिंदी का सर्वाधिक दाय सदा से काव्य के माध्यम द्वारा ही रहा है। शायद इसी लिए इस युग में भी जब कविता-पुस्तकें नहीं के बराबर खरीदी जाती हैं—हर साहित्यिक विवाद घूम फिरकर कविता पर ही आ केन्द्रित होता है।

जिसे हमने संगृहीत करना कहा है, वह काम सचमुच बड़ा दुस्साध्य सिद्ध हुआ है। हिंदी-प्रदेश की विशालता व्यवस्थित, संग्रहालयों-पुस्तकालयों का अभाव, पत्र-पत्रिकाओं की अनुपलब्धि आदि ही क्या कम कठिनाइयाँ थीं। इनके अतिरिक्त हमें ढेरों पत्र-व्यवहार करना पड़ा। किसी विशेष कार्यवश किया गया पत्र-व्यवहार कैसा दुष्कर कार्य है इसे भुक्तभोगी ही जानते हैं।

संग्रह को तैयार करने में हमारी नीति यह रही है कि वर्ष भर में जितनी भी श्रेष्ठ कविताएँ, पुस्तकों, पत्रिकाओं अथवा रेडियो के माध्यम से हिंदी-भाषी जनता के सम्मुख आई हैं, उन्हें इसमें सम्मिलित किया जाय। ऐसी परिस्थिति में कुछ वे कविताएँ भी हमने संग्रह में ले ली हैं जो लिखी तो पहले गई थीं किंतु जिनका प्रमुख रूप से प्रकाशन सन् १९५४ में ही हुआ है।

श्रेष्ठ या प्रतिनिधि को चुनने का जो मानदंड हमने माना उसमें हमारी व्यक्तिगत रुचि के अतिरिक्त स्वयं कवियों की अपनी कविताओं की पसंद भी शामिल रही। पुस्तक '१९५४' में आरम्भ से लेकर अन्त तक कवियों को स्थान अकारादि क्रम से दिया गया है।

सारे प्रयत्नों के बावजूद इस संग्रह में कुछ कवियों की कविताएँ सम्मिलित नहीं हो सकीं क्योंकि हम उनसे संपर्क स्थापित नहीं कर सके या उनकी कविताएँ हमें देर से प्राप्त हुईं। इसके लिए हम उनके

प्रति क्षमाप्रार्थी हैं और उनसे भी अधिक पाठकों के प्रति क्षमाप्रार्थी हैं क्योंकि अधिक नुकसान तो इसमें पाठकों का ही है।

जो भी हो 'कविताएँ : १९५४ संकलन' को प्रस्तुत करते समय हमें इस बात की बड़ी खुशी हो रही है कि एक ही वर्ष के इस संकलन में हमने हिंदी काव्य के अक्षयकोष के कई बहुमूल्य रत्नों को अनायास ही एक ठौर पा लिया है।

संकलन प्रस्तुत है। जो तटस्थ है वे हमारे साहित्य को बधाई दें, जो सहानुभूति रखते हैं वे प्रोत्साहन दें और जो इसी में घुले-मिले हैं वे खुशी के मारे फूले न समाएँ।

अजितकुमार
देवीशंकर अवस्थी

आभार

अखिल भारतीय आकाशवाणी।

छाँह, धरती और स्वर्ग, बावरा अहेरी, बोलों के देवता, भावना के फूल, मूर्च्छना, रात और शहनाई, वर्षान्त के बादल, स्वर के दीप श्रद्धा आदि कविता संग्रहों के प्रकाशकों,

अजन्ता, अवन्तिका, आजकल, कल्पना, कविता, धर्मयुग नई धारा, नया जीवन, नया पथ, नया समाज, नई कविता, पाटल, प्रसारिका, भारती, समाज, सरस्वती; सरिता, सारंग, साहित्यकार, हिन्दुस्तान, हुंकार आदि पत्र-पत्रिकाओं एवं,

संकलन में संग्रहीत समस्त कवियों के प्रति, हम आभारी हैं जिनके द्वारा प्रसारित, प्रकाशित अथवा रचित सामग्री का उपयोग इस संग्रह में हुआ है।

ओंकारनाथ श्रीवास्तव, कीर्ति चौधरी, कृष्णचन्द्र खेमका, जनेश्वर वर्मा, बालकृष्ण गुप्त, महेन्द्रकुमार विद्यार्थी और सिद्धिनाथ मिश्र से सामग्री के संचय करने अथवा प्रतिलिपि बनाने में सहायता प्राप्त हुई।

अजितकुमार एवं देवीशंकर अवस्थी ने यह संकलन हमारे लिए सुलभ किया। गिरिजाकुमार माथुर एवं बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'। से हमें समय-समय पर परामर्श मिले। इनके प्रति हम अनुग्रहीत हैं।

—प्रकाशक

कविताएँ : १९५४

[१९५४ में प्रकाशित अथवा प्रसारित]

प्रमुख हिन्दी कविताओं का

प्रतिनिधि संकलन

कवि-सूची

कविताएँ
१९५४

'अंचल' | १

वर्षान्त के बादल

जा रहे वर्षान्त के बादल
हैं बिछुड़ते वर्ष भर को नील जलनिधि से
स्निग्ध कज्जलिनी निशा की ऊर्म्मियों से
स्नेह-गीतों की कड़ी-सी राग रंजित ऊर्म्मियों से
गगन की शृंगार-सज्जित अप्सराओं से
जा रहे वर्षान्त के बादल

किस महावन को चले
अब न रुकते अब न रुकते ये गगनचारी
नींद आँखों में बसी गति में शिथिलता
किस गुफा में लीन होंगे
सांध्य-विहगों से थके डैने लिए भारी
साथ इनके जा रहा अगणित विरहिणी-विरहियों का दाह
दे रही अनिमेष नयनों से हरित वसुधा विदाई
किस सुदूर निभृत कुटी में पूजिता सुधि की इन्हें फिर याद आई
भर गई आ रिक्त कानों में
किस कमल-वन में अनिद्रित शारदीया की करुण, चंचल रुलाई
जा रहे आलोक-पथ से मंद गति
वर्षान्त के बादल
हैं सलिल-प्लावित नदी-नद-ताल-पोखर
वेग-विह्वल झर रहे गिरि-स्रोत निर्झर
दे भरे मन से विदा, कर कुसुम-किरणों से नमन

छोड़कर अंकुरित नूतन फुल्ल-खेत
छोड़ उत्सुक बंधुओं के नेत्रों का प्यार
छोड़ लघु पौधे व्यथातुर शस्य-शालि अपार
जा रहे वर्षान्त के बादल

खोह अंजन की कहाँ वह गुरु गहन
आगार वह विश्राम मुग्ध विराम की
जा रहे जिसमें चले ये थके वन-पशु से
प्यास होठों पर लिए किसके मिलन की
भर जगत में नव्य जीवन
जा रहे किस प्रिया की सुधि से घिरे
नई आकांक्षा भरे वर्षान्त के बादल
जा रहे वर्षान्त के बादल !

अजितकुमार | २

संक्रमण

चलते थे जिन पर
वे सड़कें भी मुड़-तुड़ कर
ख़तम हो गई थीं;
सब आवाज़ें
कभी यहाँ, कभी वहाँ थोड़ी या बहुत देर—
बोल: सो गई थीं।
दोस्त
सुबह-शाम रात-रात भर

बातें कर : चुप थे,
अब रीते थे;
और अधिक मादकता, आकुलता, विह्वलता
जगा नहीं पाते थे दिन वे
जो बीते थे।

हर क्षण जो बढ़ती थी
वही उमर कहीं, किसी जगह
रुक गई थी;
और रात—
पहाड़ी पर : कुछ घंटों की खातिर ? नहीं—
सदा-सर्वदा के लिए झुक गयी थी।

पेड़ों-पौदों-फूलों का उगना
बन्द था;
पंचम स्वर तक पहुँचा हुआ गीत
मन्द था।

बहुत तेज़ गति से
बहनेवाली धारा अब वर्षा की नदी सदृश
रेती में खोई थी;
फसल : कट-कटाकर, सब
खतम हो चुकी थी
जो साधों से
बोई थी।

वह ठहरी-ठहरी वय !
निर्मम जड़ता की जय !
बहरी स्थिरता का भय !

लहरों-काँटों-चहारदीवारों :
अवरोधों, कुंठा-सीमा-भारों :
का दुर्जर घेरा था।

यह था : जो मेरा था।
इसीलिए घेरा तोड़ा मैंने,
जो 'मेरा' था : वह छोड़ा मैंने।
नई, धवलगात रात,
नवल ज्योति-स्नात प्रात,
जाग्रत जीवन, कलरव,
नए जगत, नव अनुभव
भिन्न दृश्य, पथ, चित्रों,
स्नेही-निश्छल मित्रों
के लिए प्रतीक्षा की।
इनसे फिर दीक्षा ली।

अनन्तकुमार 'पाषाण'

३
बम्बई की शाम

ठुँसे रेस्त्राँ, फूल-पत्तियों से बचकानी रँगीं दिवारें,
पीले-पीले दीप काँपते विद्युत-सरि के अन्त-बिन्दु पर,
बाँए कोने से ग्राहक की,
फटे टीन-सी ध्वनि उठती है,
और छोकरा होंठ काटता दौड़-दौड़ कर सब कोनों से

'आडर' लेता घूम रहा है।
'छुकरे' ने 'सलामें' साहब को
किया उठा बख्शीस दुअन्नी,
और जॉन ने टाइप करनेवाली लड़की
मार्गरेट के लिये मंगाई
छः आने की पीली 'जेली'
गोल पीन भद्दे प्याले में,
मार्गरेट ऐसे हँसती है जैसे 'मोनालिसा' हँसी थी
चित्रकार डा विंची के सुन्दर 'कन्वस' पर;
मार्गरेट ने वैसे हँसने की प्रैक्टिस में
बार-बार दर्पण के आगे होंठ दबा कर
उमस-भरी रातें काटी हैं।
शहर कुनकुने ख्वाबों में बेचैन पड़ा है!
जैसे गिल्टी कठिन प्लेग की जहर छिपाए फूल रही है,
'क्यूबिस्टिक' नव चित्रकला सी—सीधी-सीधी ज्यामिति-रूपा
नंगी गलियाँ—कहीं उजाला,
कहीं अँधेरा—बड़े-बड़े 'टिन' के तख्तों पर विज्ञापन हैं—
'लक्स टॉयलेट सोप', 'जिलेट' के ब्लेड,
सिनेमा के पोस्टर हैं।
डी सोटो, हिलमैन, कैडलक, ट्रकें, गाड़ियाँ पीत खोपड़ी लिए
टैक्सियाँ दौड़ रही हैं मार्गरेट औ' जॉन खड़े हो देख रहे हैं।
आत्मा-रस गाढ़ा बनता है,
मानव तन चमड़ा बनता है,
टूटी घड़ियाँ लँगड़ाती हैं,
अगन सूइयाँ घूम रही हैं।
दूर शहर के लैम्प झँप रहे, रेलों का 'शंटिङ्ग' होता है,
खामोशी पैबन्द लगाकर अपनी साड़ी जोड़ रही है।

"आज रात की गाड़ी से मुझको जाना है,
आओ चित्र तुम्हारा ले लूँ।" बॉक्स कैमरा
आँख खोलकर, चुप होता है आँख बन्द कर
रेस्त्राँ में हो रहा शोर है—
'सेव-ओसामण', 'दाल-गाँठिया', 'बेदा-सैंडविच',
'जेली-बिस्किट', 'मस्का-बेरा', 'केक'—सभी है,
और गन्ध है भोजन की, उन्मत्त गन्ध है
भोजन की, उत्तप्त गन्ध है भोजन की।
मैं बाहर आ देख रहा हूँ—
ट्राम लाइन्स पर नीचा मुँह कर
एक दार्शनिक कुत्ता ऐसे चला जा रहा
जैसे उसके लिये सकल वसुधा कुटुम्ब है।

अनिलकुमार | ४

सबेरा

रात डूबी, चाँद ऊबा, पश्चिमा के अंक
नीलिमा के निपट दलदल में फँसा आकंठ
दिवस ऊगा है न पूरा, छा रहा आतंक;
चार पंछी चहचहाते भर रहे हैं पंख।

फट रही चादर पुरानी है अँधेरे की
मर गयी नीली गुलामी के लहू सी दूब,
यह घड़ी ऐसी अजब हम हार जाते ऊब;
बज रहे ताले खुली जंजीर घेरे की।

चाँद डूबा है, उजेला भी टहलता है,
बीत जायेगा उमस उकताहटों का क्या?
रंग बर्षा में पुराने पाश तोड़े आ।
देख तो खामोश नजरों में तहलका है।

दुःख कीचड़ में धँसे का रो नहीं दुखड़ा
तैर आवेगा तिमिर में सूर्य का मुखड़ा।

'अज्ञेय'

५

जो कहा नहीं गया

है, अभी कुछ और है, जो कहा नहीं गया।
उठी एक किरण धायी, क्षितिज को नाप गयी,
सुख की स्मिति कसक-भरी, निर्धन की नैन-कोरों में काँप गयी,
बच्चे ने किलक भरी, माँ की वह नस-नस में व्याप गयी।
अधूरी हो, पर सहज थी अनुभूति :
मरी लाज मुझे साज बन ढाँप गयी—
फिर मुझ बेसबरे से
रहा नहीं गया।
पर कुछ और रहा जो
कहा नहीं गया।

निर्विकार मरु तक को सींचा है
तो क्या? नदी-नाले ताल-कुएँ से पानी उलीचा है
तो क्या? उड़ा हूँ, दौड़ा हूँ, तैरा हूँ, पारंगत हूँ,

इसी अहंकार के मारे
अंधकार में सागर के किनारे
ठिठक गया : नत हूँ
उस विशाल में मुझसे
    बहा नहीं गया।
इसलिए जो और रहा, वह
    कहा नहीं गया।

शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ हैं
पर इसीलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ हैं।
शायद केवल इतना ही : जो दर्द है
वह बड़ा है, मुझी से
    सहा नहीं गया।
तभी तो, जो अभी और रहा, वह
    कहा नहीं गया।

उदयशङ्कर भट्ट

६
दो मुक्तक

(१)

धरती से बढ़कर और नहीं धन कोई।
ज़िन्दगी यहीं पर उगी, फली, रस-धोई।
नक्षत्र, चाँद, सूरज में घूम थकी जब,
ईश्वर की काया पाषाणों में सोई।

(२)

पहिये की धुरी पर मक्खी एक बैठकर,
गर्व से भरी और बोली यों ऐंठकर,
कितनी धूल उड़ रही है मेरी पदचाप से?
कहोगे न यह सब मेरे ही प्रताप से?
पिद्दी उठ बोला तब, यह भी होगा सही,
पैरों पर आसमान क्या तू देखती नहीं?
सुन गर्वोक्ति, बोला गधा एक सस्वर,
देखा अरे, गायक है मुझ-सा कहीं पर?
विस्मित विधाता देख बोले यह क्या किया?
पुतले में हाथी का अहंकार भर दिया?
अब रचा एक नया मानव का संसार।
पर किया नर ने विधाता का ही बहिष्कार।

ओंकारनाथ श्रीवास्तव

७

गोताखोर

कोलाहल, तरंगाकुल शब्दव्यूह!
ढीली करो डोरियों को
और ज़रा ढीली करो
जल में उतरने दो।

ज़ोर शोर अट्टहास
दुर्भावनाओं भरा उपहास

गिरकर पार करने दो
भावों में मरने दो
नीचे उतरने दो।

बुलबुलों में मृत्यु की कथाएँ लिख मिट जायँ
लहरें आएँ
फिर फिर आएँ
खिलखिलाएँ
भूल जाएँ
तुम डोरियों को थामे रहो
ढीली करो
और ज़रा ढीली करो
नीचे उतरने दो
नीचे उतरने में रहने दो।

शांति मिले तह की
नहीं घातें हों लहरों की बहकी बहकी
और पड़ती सुनाई न हों बातें बढ़-बढ़ के
चाँद चूमने की कहतीं जो
ज्वारों के विमानों पर चढ़-चढ़ के;
और नीचे जाने दो
शांति के हृदय में समाने दो
स्तर भेद करने दो।
गहरे उतरने दो

अतल अवगाहने दो
इस अथाह जल को
मुझे थाहने दो।

डोरियों को ढीली,
और ढीली
तुम किये चलो
जान-बूझकर नीचे गिरा चला जा रहा हूँ
सम्बल तुम दिये चलो।

यह तल है,
ठहरा हुआ पल है
अब जीने दो;
पैर टिक रहे हैं
डोरियों को और ढीली करो
मुक्त बन जाने दो
जो कुछ मिल जाए सत्वर समेट लाने दो
गाने दो।

आह! जी लिया पल भर
कस लो डोरियों को अब
देर न लगाओ
अब ऊपर उठाओ
बहुत आकुल हूँ
दर्शन को।

आतुर हूँ
शांति उपशांति औ अशांति के समस्त व्यूह
शर के समान भेद
ऊपर आऊँ तत्काल
जल-जाल मुक्त हो
अतुल गौरव युक्त हो

विनत हो सप्रेम कहूँ—
जो हूँ—
तुम्हारा ही तो किया कराया हूँ
लो—
मोती लाया हूँ।

कीर्ति चौधरी | ८

गीत

शब्दों की कथा एक मेरी है,
गीतों के पात्र सब तुम्हारे हैं।

तुमसे जो कुछ पाया,
अपना कह दिखलाया,
देने औ' पाने की व्यथा एक मेरी है,
उपजे जो श्रेय-राग, मात्र वे तुम्हारे हैं।

चलना ही पथ जाना,
तुमको ही अथ माना,
भटके चरणों की गति-श्लथा एक मेरी है,
जीवनमय लक्ष्य-प्राप्त, गात्र सब तुम्हारे हैं।

तुमको क्या कम है,
यह मेरा ही भ्रम है,
पर कहने औ' सुनने की प्रथा एक मेरी है,
पग-पग के प्रेरक तो शास्त्र ही तुम्हारे हैं।

ले लो, मत मान करो,
मेरा अभिमान धरो,
भ्रम ही हो टूट जाय : कथा नहीं मेरी है,
मेरे सँग : गीत-कथा-पात्र : सब तुम्हारे हैं।

'कुमार' | ९
| ???

जब थी ज्वालामयी धरित्री, गैस-पिंड-भर,
कह सकता था कौन उस समय
एक दिवस ऐसा आएगा
जब कि समुन्दर लहरें लेगा
हँस-हँसकर उसकी छाती पर !
धरती की विस्फोट-क्रान्ति से
उसका जो छोटा-सा हिस्सा अलग हुआ था,
वही करेगा परिक्रमा नित;
और एक दिन बन जाएगा धरती के हित
हिम-सा शीतल, सुखद चन्द्रमा;
वसुन्धरा पर बरसाएगा ज्योति-रश्मियाँ, फूल विभा के,
होएँगे पाषाण भी मुखर !
और जहाँ खाईं थी गहरी,
वहीं हिमालय उठ बैठेगा नभ तक निज माथा ऊँचा कर
और एक दिन......
स्नान कर रही होगी धरती जब किरणों से,

बीते-भर का चढ़ जाएगा नर-नाहर तब
उस अजेय गिरि एवरेस्ट के आसमान पर
मुस्काते गौरव-ललाट पर !
जहाँ सैकड़ों विसूवियस अंगारे उगला करते थे,
चौबीसों घंटे रहते थे अनुप्राणित-सक्रिय,
उस मिट्टी की नई सतह पर,
एक दिवस आएगा ऐसा
जब कि धान-गेहूँ के पौधे उभरेंगे, लहलहा उठेंगे,
इतराएँगे फूल मुग्धकर !
कौन उस समय कह सकता था ?
वृक्षों पर, गिरि-खोहों में रहनेवाला वह
रीछ-सरीखा मनुज बदल देगा वह चोला,
बन जाएगा सभ्य-सुसंस्कृत;
और धरा पर नए-नए ईजाद करेगा तिलस्म,
होता जाएगा उन्नत-उन्नततर......
आज कि जब सारी दुनिया में
प्रबल निराशा का कुहरा है,
अन्धकार ही अन्धकार है,
जीवन के प्रति आस्था नहीं कहीं भी,
आदमी आदमी में
एक-दूसरे के प्रति भेदभाव गहरा है,
जिन्दगी के भविष्य के प्रति
कोई भी कुछ कह नहीं पा रहा है,
युग के प्रति भय, अविश्वास है,
उद्जन और आणविक बम हैं,
गैरत लापता हो चुकी है,
मानवता लावारिस-सी है,

तब भी प्रिय, मैं कैसे कह दूँ अभी कि मुझमें
कोई भी आशा न बच रही,
मेरा जीवन से विश्वास उठ गया
और मनुजता जाएगी मर ?
कैसे कह दूँ ?
और भला मैं कह ही कैसे सकता हूँ ?.....
ऐसी कोई बात न हो पाई जब अब तक,
ऐसी परम्परा न रही जब,
तो फिर कैसे, किस बिरते पर
कह सकता है, कौन ?......

कुँवरनारायण

१०
पंख मेरे

पंख मेरे,
तू कृती हर बार,
नभ केवल प्रतीक्षा।

तू उमड़ बढ़ वक्र में अपने गगन को घेर,
उस अनियमित काल गति में सत्य अपने हेर,
फूँक अपनी तीव्र गति से उस मरण में प्राण,
दे निरर्थक कल्पनोपरि को धरा के मान
तू कृती सौन्दर्य का,
कर शून्य भी स्वीकार :
तू रचा आकार, नभ केवल प्रतीक्षा।

उठ, नए विश्वास से बंजर धरा को गोड़,
बधिर नभ के मौन को किलकारियों से फोड़,
ज्योति के निःशब्द तारों में गुँजा दे गान,
जिस तरफ़ उड़ जाय तू खिल जाय वह वीरान।

तू कृती है गीत का,
कर मौन भी स्वीकार :
गा बहा रसधार, नभ केवल प्रतीक्षा।

ये तुले डैने अप्रतिहत व्योम में छा जायँ
मर्म लघु के संतुलन में बृहत् के पा जायँ,
उधर विघ्नों की चुनौती इधर हठ निर्माण,
फहर अम्बर चीरकर ओ धरा के अभिमान।

तू कृती है राह का,
कर अगम भी स्वीकार :
फैल पारावार, नभ केवल प्रतीक्षा।

केदार अग्रवाल | ११
गीत

इसी जन्म में, इस जीवन में,
हमको तुमको मान मिलेगा;
गीतों की खेती करने को,
पूरा हिन्दुस्तान मिलेगा!

क्लेश जहाँ है—

फूल खिलेगा,

हमको तुमको त्रान मिलेगा;
फूलों की खेती करने को,
पूरा हिन्दुस्तान मिलेगा !

दीप बुझे हैं जिन आँखों के,
उन आँखों को ज्ञान मिलेगा;
विद्या की खेती करने को,
पूरा हिन्दुस्तान मिलेगा !
मैं कहता हूँ,

फिर कहता हूँ :

हमको तुमको प्रान मिलेगा;
मोरों-सा नर्तन करने को,
पूरा हिन्दुस्तान मिलेगा !

केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' | १२

प्राण-दर्शन

जिस क्षण वाणी का हुआ प्राण से मिलन मौन
सजना पिघलकर धरती में साकार हुई !

(१)

कुछ तार पड़े थे बिखरे-से
सब कहते हैं—वे आदि-अंत-अवसान न जाने क्या-क्या थे—
स्वर सोये थे उनमें कितने
कितनी झंकारें उनमें थीं निस्पंद।
उन तारों पर कुछ गाऊँ मैं—
बहलाऊँ मन हे देव! तुम्हारा भी—
तुमने छोटी-सी वीणा दी
फिर एक बार

जिस क्षण वीणा का हुआ प्राण से मिलन मौन
वंदना पिघलकर धरती में साकार हुई!

(२)

मैंने कब जाना
दीप-शिखा जिसको लेकर मैं उतरा था
वह इसीलिए मुस्काती थी दिन-रात
कि वह मेरे कर में
संगिनी आयु के अंचल में
अनजान तुम्हारी थाती थी।
जब जान गया—उसको पलकों में छुपा लिया;
सब ओर तुम्हारा ही प्रकाश
पर 'लौ' थी मेरी आँखों में
जिसका कंपन मैं लिए चरण
पतवार बनाकर साँसों का
पतली की नौका पर
आकूल की अंतरंग लहरों में सौ-सौ

जन्म-मरण की सीमाएँ कर पार।
तब करुणा का आह्वान हुआ—
फिर एक बार

जिस क्षण करुणा का हुआ प्राण से मिलन मौन
वेदना पिघलकर धरती में साकार हुई!

(३)

अयि जलन! तुम्हें शत-शत प्रणाम!
शत-शत प्रणाम अयि ज्वालाओं की अमर दीप्ति!
संदीप्ति सुलगते हुए क्षणों की
तुम्हें नमन, शतबार नमन!
तुम चिर प्रसन्न—शतबार जली है नियति—
भाग्य की रेखा भी
शतबार गली है महामरण की लेखा भी!
वरदान यही मैंने पाया
वरदान दिया था यही देवता ने पुकार मुझे
अखिल तत्त्वों की ज्वाला को पुकार!
फिर एक बार
जिस क्षण ज्वाला का हुआ प्राण से मिलन मौन
चेतना पिघलकर धरती में साकार हुई!

(४)

मैं क्या जानूँ—पथ भी विधान?
मैं तो भविष्य के ज्योति-शिखर पर
पग धरनेवाला विहान
जिसकी विधायिका शक्ति—भावना भरी भक्ति।

मैं पलक एक—मैं एक गान
उच्छ्वास एक—विश्वास एक
मैं ही तूली था देव ! तुम्हारे हाथों में
जिस पर श्रद्धा थी गई रीझ
फिर एक बार

जिस क्षण श्रद्धा का हुआ प्राण से मिलन मौन
साधना पिघलकर धरती में साकार हुई !
जिस क्षण वाणी का हुआ प्राण से मिलन मौन
सर्जना पिघलकर धरती में साकार हुई !

केदारनाथसिंह

१३
गीत

कुहरा उठा !
साये में लगता पथ दुहरा उठा !

हवा को लगा गीतों के ताले—
सहमी पाँखों ने सुर तोड़ दिया,
टूटती बलाका की पाँतों में—
मैंने भी अंतिम क्षण जोड़ दिया,
उठे पेड़, घर, दरवाज़े, कुँआ...
खुलती भूलों का रङ्ग गहरा उठा !

शाखों पर जमे धूप के फाहे,

गिरते पत्तों से पल ऊब गये,
हाँक दी खुलेपन ने फिर मुझको,
डहरों के डाक उधर डूब गये
नम साँसों ने छू दी दुखती रग,
साँझ का सिराया मन हहरा उठा !

पकते धानों से महकी मिट्टी
फसलों के घर पहली थाप पड़ी,
शरद् के निढाल काँपते जल पर—
हेमन्ती रातों की भाप पड़ी,
सूइयाँ समय की सब ठार हुईं,
छिन, घड़ियों, घंटों का पहरा उठा।

केसरीकुमार

१४
प्रपद्य-प्रारूप

आदमी को चाहिए पानी,
मत्स्य वह आज भी जैसा;
टूटने को
परों को समेटे हुए वक-सा
सूरज ऊपर कसा-कसा;
और
दिन धीवर के पाश-सा मैला
फैला-फैला-फैला ।

गङ्गाप्रसाद श्रीवास्तव | १५

किशनपुर की एक झलक

रात की लहरदार
साड़ी जिसे ढाँके है,
वह गाँव
जमुना की गोद में
हाथ-पाँव गलियों के फेंक रहा—
बेलों के घनेरे बाल
सभी बिखराये हुए,
दूहों और टीलों के अंग उठे-उठे-से
घर-बार-झोंपड़े
खिलौनों जैसे छोड़े हुए,
फैले हुए जन-रव में कुछ मचला हुआ,
सुआपंखी खेतोंवाला
झबला पहिनकर
(जमुना की) बलुवे कछार-जैसी
गोरी-गोरी छाती पर
दूध पीता शिशु कोई।
ऊपर का आसमान
तारों के अंगूर लिये
दुलराता,
पास का कगार

हरियाली से लुभाता हुआ
गोद में बुलाता है;
(जमुना की) मीठी-मीठी लोरी थपकाती है
रात की अँधेरी, और
विष-सी लगाए हुए,
जैसे झुकी छाती है,
किन्तु
भरी जमुना की नीली-नीली बाँहों में
हँसता-किलकता
कृष्ण-सा किशनपुर।
रात की रतनदार
साड़ी जिसे मूँदे है,
वह गाँव
जमुना की गोद में……

गजानन माधव मुक्तिबोध | १६

सहर्ष स्वीकारा है

ज़िन्दगी में जो कुछ है, जो भी है
सहर्ष स्वीकारा है;
इसलिए कि जो कुछ भी मेरा है
वह तुम्हें प्यारा है।

गरबीली गरीबी यह, ये गँभीर अनुभव सब,
यह विचार वैभव सब;

दृढ़ता यह, भीतर की सरिता यह अभिनव सब
मौलिक है, मौलिक है;
इसलिए कि पल-पल में
जो कुछ भी जाग्रत है, अपलक है—
संवेदन तुम्हारा है !!

जाने क्या रिश्ता है, जाने क्या नाता है,
जितना भी उड़ेलता हूँ भर-भर फिर आता है।
दिल में क्या झरना है?
मीठे पानी का सोता है?
मुसकाता रहे चन्द्र धरती पर रात भर
चेहरे पर मेरे त्यों
मुखमंडल तुम्हारा है।
सचमुच मुझे दण्ड दो कि भूलूँ मैं, भूलूँ मैं
तुम्हें भूल जाने—दक्षिण-ध्रुवी-अन्धकार—
अमावस्या पालूँ मैं, पालूँ मैं,
झेलूँ मैं, उसी में नहा लूँ मैं—
इसलिए कि
तुमसे परिवेष्टित, आच्छादित
रहने का रमणीय यह उजेला अब
सहा नहीं
जाता है
नहीं सहा जाता है !!

ममता के बादल की कोमलता मँडराती है
भीतर पिराती है!
कमज़ोर और अक्षम अब

हो गई है आत्मा यह,
छटपटाती छाती को भवितव्यता डराती है !
बहलाती, सहलाती आत्मीयता अकुलाती
बरदाश्त नहीं होती है ।

सचमुच मुझे दण्ड दो कि
पाताली अँधेरे की गुहाओं में
विलीन हो जाऊँ मैं
धुएँ के बादलों की घुँघराली अलकों की
बारीक रेखा-सा, कहीं भी, कहीं तो भी
हो जाऊँ लापता !!
लापता कि वहाँ भी तो
तुम्हारा ही सहारा है
इसलिए कि जो कुछ भी मेरा है
या मेरा जो होने-सा लगता है
होता-सा सम्भव है
सभी वह तुम्हारे ही कारण के कार्यों का घेरा है
कार्यों का वैभव है ।
जिन्दगी में जो भी है, जो कुछ है,
सहर्ष स्वीकारा है,
इसलिए कि जो कुछ भी मेरा है
वह तुम्हें प्यारा है !!

गिरिजाकुमार माथुर

१७
ढाक वनी

[विंध्य-पठार : अशोकनगर के एक प्रागैतिहासिक ताल का प्रभाव चित्र]

लाल पत्थर, लाल मिट्टी
लाल कंकड़, लाल बजरी
लाल फूले ढाक के वन
डांग गाती फाग कजरी

सनसनाती साँझ सूनी,
वायु का कठला खनकता
झींगुरों की खंजड़ी पर
झाँझ सा बीहड़ झनकता

कंटकित बेरी करौंदे
महकते हैं झाब झोरें
सुन्न हैं सागौन वन के
कान जैसे पात चौड़े

ढूह, टीले, टौरियों पर
धूप-सूखी घास भूरी
हाड़ टूटे देह कुबड़ी
चुप पड़ी है गैल बूढ़ी

ताड़, तेंदू, नीम, रेंजर
चित्र लिखीं खजूर पाँतें
छाँह मंदी डाल जिन पर
ऊगती है शुक्ल सातें

बीच सूने में—
बनैले ताल का फैला अतल जल
थे कभी आये यहाँ पर
छोड़ दमयंती दुखी नल

भूख व्याकुल, ताल से ले
मछलियाँ थीं जो पकाईं
स्राप के कारन जली ही
वे उछल जल में समाईं

है तभी से साँवली
सुनसान जङ्गल की किनारी
हैं तभी से ताल की
सब मछलियाँ मनहूस काली

पूर्व से उठ चाँद आधा
स्याह जल में चमचमाता
बन चमेली की जड़ों से
नाग कसकर लिपट जाता

कोस भर तक केवड़े का
है गसा गुंजान जङ्गल
उन कँटीली झाड़ियों में
उलझ जाता चाँद चंचल

चाँदनी की रैन चिड़िया
गंध फलियों पर उतरती
मूँद लेती नैन गोरे
पाँख धीरे बन्द करती

गंध-घोड़े पर चढ़ीं
दुलकी चली आतीं हवाएँ
टाप हल्के पड़ें जल में
गोल लहरें उछल आएँ

सो रहा वन, ढूह सोते,
ताल सोता, तीर सोते
प्रेतवाले पेड़ सोते
सात तल के नीर सोते

ऊँघती है रूँद
करवट ले रही है घास ऊँची
मौन दम साधे पड़ी है
टौरियों की रास ऊँची

साँस लेता है बियाबाँ
डोल जातीं सुन्न छाहें
हर तरफ गुपचुप खड़ी हैं
जनपदों की आत्माएँ

ताल की है पार ऊँची
उतर गलियारा गया है
नीम, कंजी, इमलियों में
निकल बंजारा गया है

बीच पेड़ों की कटन में
हैं पड़े दो चार छप्पर
हाँडियाँ, मचिया, कठौते
लट्ठ, गूदड़, बैल, बक्खर

राख, गोबर, चरी, औंगन
लेज, रस्सी, हल, कुल्हाड़ी
सूत की मोटी फतोई
चक्का, हँसिया और गाड़ी

धुआँ कंडों का सुलगता
भौंकता कुत्ता शिकारी
है यहाँ की ज़िन्दगी पर
शाप नल का स्याह भारी

भूख की मनहूस छाया,
जबकि भोजन सामने हो
आदमी हो ठीकरे-सा
जबकि साधन सामने हो

धन वनस्पति भरे जङ्गल
और यह जीवन भिखारी
शाप नल का घूमता है
भौथरे हैं हल कुल्हाड़ी

हल कि जिसकी नोक से
बेजान मिट्टी झूम उठती
सभ्यता का चाँद खिलता
जंगलों की रात मिटती

आइनों से गाँव होते
घर न रहते धूल कूड़ा
जम न पाता जिन्दगी पर
युगों का इतिहास घूरा

जंगली सुनसान बनकर
मृत्यु-सा जो प्रेत फिरता
खाद बन जीवन-फसल की
लोक-मंगल रूप धरता

रंग मिट्टी का बदलता
नीर का सब पाप धुलता
हरे होते पीत ऊसर
स्वस्थ हो जाती मनुजता

लाल पत्थर लाल मिट्टी
लाल कंकड़ लाल बजरी
फिर खिलेंगे ढाक के वन
फिर उठेगी फाग कजरी।

गिरिधर गोपाल

१८

चाँदनी और कारवाँ

ध्यान मुझको तुम्हारा प्रिये,
चाँद औ चाँदनी का मिलन देख आने लगा,

ज़िन्दगी का थका कारवाँ
सैकड़ों कण्ठ से प्यार के गीत गाने लगा।

रात का बन्द नीलम किवाड़ा डुला,
लो क्षितिज-छोर पर देव-मन्दिर खुला,
हर नगर झिलमिला हर डगर को खिला
हर बटोही जिला ज्योति प्लावन चला;
कट गया शाप, बीती विरह की अवधि,
ज्वार की सीढ़ियों पर खड़ा हो जलधि
अंजली अश्रु भर-भर किसी यक्ष-सा,
प्यार के देवता पर चढ़ाने लगा।

आरती थाल ले नाचती हर लहर,
हर हवा बीन अपना बजाने लगी,
हर कली अंग अपना सजाने लगी,
हर अली आरसी में लजाने लगी,
हर दिशा तक भुजाएँ बढ़ाता हुआ,
हर जलद से सँदेसा पठाता हुआ,
विश्व का हर झरोखा दिया बाल कर,
पास अपने पिया को बुलाने लगा।

ज्योति की ओढ़नी के तले लो तिमिर
की युवा आज फिर साधना हो गया,
स्नेह की बूँद में डूबकर प्राण की
वासना आज आराधना हो गयी;
आह री ! यह सृजन की मधुर वेदना,
जन्म लेती हुई यह नयी चेतना,

नारि के जगमगाते जलज वक्ष पर
आदमी स्वप्न कल के बनाने लगा।

यह सफ़र का नहीं अंत, विश्राम रे,
दूर है दूर अपना बहुत ग्राम रे,
स्वप्न कितने अभी हैं अधूरे पड़े
जिन्दगी में अभी तो बहुत काम रे;
मुस्कराते चलो, गुनगुनाते चलो
आफ़तों बीच मस्तक उठाते चलो,

भूमि को बाँह भर काल की राह पर
आसमाँ पाँव अपने बढ़ाने लगा।

गोपालकृष्ण कौल

१९
तीन रुबाइयाँ

दिल में नफरत है, मगर हँसते हैं;
क्योंकि मुस्कान में सब फँसते हैं।
इस हँसी को ख़रीद ले, जो चाहे!
तहज़ीब के भाव आज सस्ते हैं।

यह क्या कम है—सलाम करते हैं।
यह हमदर्दी जो आह भरते हैं।
गालियाँ देते हैं परदे में ही!
सामने तो राम-राम करते हैं।

ख़ून से खटमलों के पेट भरते हैं।
ख़ूराक जो ठहरी, नहीं तो मरते हैं।
लेकिन धनदासजी, आदमी का ख़ून
बैंक में हिफ़ाज़त से जमा करते हैं।

गोपीकृष्ण 'गोपेश'

२०
प्राण बहुत जीते हैं

प्राण बहुत जीते हैं,
गीतों के मरने का दर्द बहुत पीते हैं।
प्राण बहुत जीते हैं।
गीतों की लड़ियों से,
तारों के झरने का एक तार टूट गया;
चंदा से, चाँदी से,
अन्तर की धरती का नाता-सा टूट गया।
साँसों का चरखा है, गरमी है, बरखा है;
इस पर भी तानों में, मुर्दा-मुसकानों में,
गान बहुत जीते हैं, प्राण बहुत जीते हैं।
जीतों की लड़ियों से
हारों के झरने का एक तार टूट गया;
हिरनी के छौने-सा,
किसी एक बच्चे के लाड़ले खिलौने-सा,
छूट गिरा हाथों से, सहसा ही फूट गया!
ऐसे में यादें क्या? ढहती बुनियादें क्या?

इस पर भी राहों में, साधों में, चाहों में
दान बहुत जीते हैं, प्राण बहुत जीते हैं।
प्यासों की लड़ियों से
अधरों के झरने का एक तार टूट गया;
लहरों के अन्दर की
धानी परछाईं को कोई ज्यों लूट गया।
करती-अनकरती को, वाजिब को, भरती को,
पाला-सा मार गया;
अपनी ही हिम्मत से कोई ज्यों हार गया।
लेकिन, यह पूरब है, नई साँस लेता है;
लेकिन, यह सूरज है, बहुत आग देता है।
ऐसे में ऊबो क्यों? आहों में डूबो क्यों?
तुमने क्या देखा है? लम्बी-सी रेखा है—
बहुत-बहुत प्यारी है, आशा-सी क्वाँरी है;
कई मोड़ खाती है, जीवन तक जाती है;
हावों में, भावों में, इसके फैलावों में,
बस्ती तो बस्ती है—
बियाबान-निर्जन-वीरान बहुत जीते हैं।
प्राण बहुत जीते हैं।
गीतों के मरने का दर्द बहुत पीते हैं,
प्राण बहुत जीते हैं।

२१
ज्योति का अभिशाप

ज्योति का अभिशाप लेकर दीप-सा मैं जल रहा।
जलन के त्योहार-सी यह
ज़िन्दगी मुझको मिली है,
दहकते अंगार पर ही
प्राण की कलिका खिली है,
रुद्र के आग्नेय दृग में स्वप्न-सा मैं पल रहा।
ज्योति का अभिशाप लेकर दीप-सा मैं जल रहा।

मृत्तिका जड़ खंड होता
मैं पड़ा रहता अगोचर,
ज्योति कण की चेतना से
मैं हज़ारों में उजागर,
दीप्त लघु अस्तित्व मेरा आँधियों को खल रहा।
ज्योति का अभिशाप लेकर दीप-सा मैं जल रहा।

ऊर्ध्व लौ निष्कम्प मेरी
आज रह-रह काँपती है,
शक्ति प्राणों की थकी-सी
लड़खड़ाती, हाँफती है,
छिपा ले ओट में मुझको ढूँढ वह अंचल रहा।
ज्योति का अभिशाप लेकर दीप-सा मैं जल रहा।

गा रहे मधु गीत तारे
हाय, पत्थर तो नहीं मैं,
मधु निशा के वक्ष पर धर
शीश सो जाऊँ कहीं मैं,
किन्तु 'सोना मौत है रे!' कह स्वयं को छल रहा।
ज्योति का अभिशाप लेकर दीप-सा मैं जल रहा।

चूमकर मेरी जलन को
जल मरी थी शलभ-बाला,
व्यर्थ उस उन्मादिनी ने
इस जलन से मोह पाला,
याद में उसकी अभागा दीप तिल-तिल गल रहा।
ज्योति का अभिशाप लेकर दीप-सा मैं जल रहा।

क्यों न मैं वरदान मानूँ
ज्योति के इस शाप को ही?
तन-जलन की मन्द लौ में
जा रहा बढ़ता बटोही,
और कितने पंथियों का मैं सदा संबल रहा।
ज्योति का अभिशाप लेकर दीप-सा मैं जल रहा।

उस महा-आलोक में लय
हो रही यह रात ढलती,
प्राण, तेरे स्नेह से ही
साधना की जोत जलती,
कालिमा के पंख में भी मैं सदा उज्ज्वल रहा।
ज्योति का अभिशाप लेकर दीप-सा मैं जल रहा।

जगदीश गुप्त

२२
यह रुपहली छाँहवाली बेल

यह रुपहली छाँहवाली बेल,
कसमसाते पाश में बाँधे हुए आकाश।
तिमिर तरु की स्याह शाखों पर पसर कर,
हर नखत की कुसुम कोमल झिलमिलाहट से रही है खेल।
यह रुपहली छाँहवाली बेल।

लहराता गगन से भूमि तक जिनके रजत आलोक का विस्तार,
रश्मियों के वे सुकोमल तार,
उलझे रात के हर पात से सुकुमार।
इस धवल आकाश लतिका में,
झूलता सोलह पँखुरियों का अमृतमय फूल,
गंध से जिसकी दिशाएँ अंध
खोजती फिरतीं अजाने मूल से संबंध।

वल्लरी निर्मूल—
फिर भी विकसता है फूल
विधि ने की नहीं है भूल।
है रहस्य भरा हृदय से हर हृदय का मेल।
हर जगह छाई हुई है,
यह रुपहली छाँहवाली बेल।

जनार्दन मुक्तिदूत

२३

रात

खड़ी है रास्ता रोके।
बखेरे लट—
सघन तम का कि जिससे बन गया है—
एक विस्तृत जाल।
कि जिसमें छटपटाते मछलियों से प्राण।
न ख़ुद हटती न देती रास्त को छोड़—
महाविकराल जिसका रूप सुरसा-सा—
कहा जाता इसे है रात।
खड़े क्या सोचते हो?
चाक कर दो गर्भ इसका—
हाँ, इसी के गर्भ से,
हँसता हुआ फिर चाँद निकलेगा।

जानकीवल्लभ

२४

हिलोर

जाने क्यों मन डोल रहा है?
लाज-गड़े तट खड़े; चपल जल—
छलक-छलक कुछ बोल रहा है!

सिद्धि के लिए विकल साधना,
प्रिय-फल-इच्छुक नवाराधना!
स्वाती-कण सीपी का सम्पुट—
ऐसे कैसे खोल रहा है?
जाने क्यों मन डोल रहा है!

यह पतझर की सन्ध्या सूनी,
सूना पथ, उत्सुकता दूनी!
झुका-झुका मेरे गौरव को—
कोई चुपके तोल रहा है!
जाने क्यों मन डोल रहा है!

कहाँ छिपी आशा-अभिलाषा?
किस कणिका को प्राण-पिपासा?
कोई मेरी सजग शान्ति में—
सोई कसक टटोल रहा है!
जाने क्यों मन डोल रहा है!

थीं आँखें झिपने पर आईं,
किसने फिर बाँसुरी बजाई!
शिथिल चेतना थी पहले ही,
और गरल क्यों घोल रहा है?
जाने क्यों मन डोल रहा है!

जितेन्द्रकुमार | २५
गीत

मलयानिल बन छू-छू जाता उर को सुरभित श्वास किसी का !
यह मधु स्मित, फैली हो जैसे
शून्य गगन में स्निग्ध चाँदनी,
यह अपरूप रूप, बजती हो
अंतहीन ज्यों रजत रागिनी,
यह अशेष सौन्दर्य-स्रोत, इसका
चिर उदगम-स्थान कहाँ है ?
मुझे बहाये लिये जा रहा सागर-सा उल्लास किसी का !
मलयानिल बन छू-छू जाता उर को सुरभित श्वास किसी का !

किसकी रूप-परिधि में निशि-भर
चाँद-सितारे घूमा करते ?
किस लावण्य-शिखा को आकुल
प्राण-शलभ ये चूमा करते ?
नयनों में छाया सहता-सा
किसका चिर छवि-स्वप्न विमोहन ?
उल्लासों के पुष्प खिलाता शत-शतशः मधुमास किसी का !
मलयानिल बन छू-छू जाता उर को सुरभित श्वास किसी का !

अमर वल्लरी फैल रही यह
आदिरहित-सी, अन्तरहित-सी,

उमड़ रही अक्षय रस-धारा
करती सब कुछ परिप्लावित-सी
एक स्वप्न-संगीत, गूँज से
जिसकी रंध्र-रंध्र प्रतिघोषित,
बाँध रहा जैसे तन-मन को सम्मोहनमय पाश किसी का!
मलयानिल बन छू-छू जाता उर को सुरभित श्वास किसी का!

रोम-रोम यह आज निवेदन—
पुष्प, गीत-वन्दन-स्वन कोमल,
नवल प्रीति आरती-दीप-लौ-सी
झलमल-झलमल मृदु उज्ज्वल,
यह समस्त अस्तित्व स्वयं ही
बनता जाता मूक समर्पण,
चिर अमरत्व दिये जाता है मुझे अमृतमय हास किसी का!
मलयानिल बन छू-छू जाता उर को सुरभित श्वास किसी का!

दिनकर

२६
आशा की वंशी

लिख रहे गीत इस अंधकार में भी तुम,
रवि से काले बरछे जब बरस रहे हैं?
सरिताएँ जमकर बर्फ हुई जाती हैं,
जब बहुत लोग पानी को तरस रहे हैं?
इन गीतों से यह तिमिर-जाल टूटेगा?
यह जमी हुई सरिता फिर धार धरेगी?

बरसेगा शीतल मेघ ? लोग भीगेंगे ?
यह मरी हुई हरियाली नहीं मरेगी ?

तो लिखो; और मुझमें भी जो आशा है,
उसको अपने गीतों में कहीं सजा दो;
ज्योतियाँ अभी इसके भीतर बाकी हैं,
लो, अंधकार में यह बाँसुरी बजा दो।

देवराज

२७
धरती और स्वर्ग

कौन जाने हैं कहीं नन्दन-कुसुम अमरावती में
नित्य जिनका रूप-गन्ध-विकास,
किन्तु निश्चित मुस्कराते फूल मृदु मेरी धरा पर,
बाँटते कुछ क्षण सुरभि-उल्लास।

कौन जाने रूपसी चिरयौवना वे अप्सराएँ,
खींचतीं ऋषि-तापसों के प्राण
आज भी पर स्निग्ध-कोमल दृष्टियों से मर्त्य-वधुएँ
दे रहीं विश्रान्ति मधु का दान।

कौन जाने हैं कहीं वे देव-गण पीयूषभोजी,
प्रिय जिन्हें स्तुति-अर्चना सविशेष,
और वह ईश्वर कि होता भक्ति से जो द्रवित सहसा,
काट देता कोटि बन्धन-क्लेश।

किन्तु निश्चित जानता मैं क्लिष्ट मानव जाति मेरी
सहज संकट-ग्रस्त, आकुल, दीन
शीघ्रतर होती द्रवित रे, स्वल्पतर समवेदना से
आँसुओं में मुस्कराती क्षीण।

स्वर्गकामी यत्न से वे पूजते भगवान्,
कर रहा मैं शुष्क अधरों पर मनुज के
कुछ क्षणों के हास का संधान।

धर्मवीर भारती

२८
अर्धस्वप्न का नृत्य

दीपक की लौ काँपी
परदों में लहर पड़ी !

शीशे में अनजाने तन के आभास हिले
अनदेखे पग में जादू के घुँघुरू छमके
क़ालीनों में ऊनी फूल दबे और खिले
थाप पड़ी पहले कुछ तेज़ी से फिर थमके

किसने छेड़ी पिछले जन्मों में सुने हुए
एक किसी गाने की पहली रंगीन कड़ी !

अगहन के कोहरे से निर्मित हलके तन के
टोने सहसा जैसे कमरे में घूम गये
हाथों में ताजी कलियों के कँगने खनके
कन्धों पर वेणी के फूल-साँप झूम गये

दीपक के हिलते आलोकों को छेड़ गयीं
चम्पे की लहराती बाहें बड़ी-बड़ी !

इन बहकी घड़ियों की गहरी बेहोशी में
जाने कब रात हुई, जाने कब बीत गयी
मन के अँधियारे में उभरे धीमे-धीमे
रंगों के द्वीप नये, वाणी की भूमि नयी

मणियों के कूल नये जिन पर हम भूल गये
लक्ष्यहीन यात्राओं की वह सुनसान घड़ी !

नर्तन यह खींच कहाँ मुझको ले जाएगा
क्या ये सब पिछली तट-रेखाएँ छूटेंगी
या दीपक गुल होगा, उत्सव थम जाएगा
गीतों की सब कड़ियाँ सिसकी में टूटेंगी

जाने क्या होना है ? सच है या टोना है ?
या यह भी खोना है ? छलना की एक लड़ी !

परदों में लहर पड़ी
दीपक की लौ काँपी !

नरेन्द्र शर्मा

२९
मौन-मुखर देवता

देवता के मौन से जब भीख माँगी,
नाद के मधु-कलश मुखरित छंद पाए !

प्रभा-मंडल हैं दिवा-निशि-नाथ जिनके
जब कभी देखा उन्हें, दृग बन्द पाए!

नाचते उन्मत्त बनकर शूलधर जब,
फूल झरते शील संयम साधना के!
स्वेद-कण विज्ञान, पद-रज ज्ञान-गरिमा
दास योगी-यती उनकी कामना के!

हैं विरोधाभास समरसता चरण दो,
छाँह उनकी परम प्रज्ञातीत माया!
मृत्तिका से भी मृदुल कोमल हृदय है,
वज्रदृढ़ ब्रह्मांड काञ्चनकान्ति काया!

श्वास के दो तार आकर्षण-विकर्षण,
नींद में शत सृष्टियों का स्वप्न-सर्जन,
अचल पलकों पर विक्रीडित लोक लीला
प्रखर जागृति में प्रलय का घोर गर्जन!

मौन ऐसे देवता से भीख माँगो,
नाद के मधु-कलश मुखरित छंद पाए!
प्रभा-मंडल हैं दिवा-निशि-नाथ जिनके
जब कभी देखा उन्हें दृग बन्द पाए!

नरेश | ३०

ज़िंदगी

तपती ज़िंदगी की उदास दोपहरी में
तुम ख़स की ख़ुशबू की तरह

कमरे में आई थीं
और भरे बादलों के रंग की
चुन्नी को चाँद-से चेहरे से
धीरे हटा बोली थीं-सपने लाई हूँ
लोगे क्या ?
ओ मेरे दिन के सपनों की सखी !
ओ मेरी ढलती हुई उम्र की सखी !
यह मेरी ज़िंदगी
और सपने !
ओ ज़िंदगी ! ओ बेहया !

नरेश मेहता

३१

ज्वार गया, जलयान गये

हमारे तट पर के जलयान
सदा को किसी दिशा के होकर
चले गये अब ।
जल है,
तट है,
शंख सीपियों बीच समुद्री झरबेरी से
हम अब भी भीगी पलक
अधूरे वाक्य कंठ में लिये खड़े हैं ।
ज्वार गया, जलयान गये
इस बालु घिरे जल को हम कितने दिन तक
सिन्धु कहेंगे ?

क्षितिज पार जब डूब रहे थे हंसपाल वे
हम पैरों लिपटे पृथ्वी के भुजंग से रहे जूझते ।
चले गये उन धावमान के संग में लंगर विश्वासों के ।
ओ खाड़ी के ज्वार !
उन जलयानों को तट पहुँचाना
जो कि हमारे जल में छाँहें छोड़ गये हैं
गोरज रँगे अकास बीच वे चले गये
कूल गाछ सा हमें समझ
उस सूर्यछाँह में
ज्वार गया, जलयान गये
सँझवायी लहरों पर गतिशील सदा को चले गये ।

तिरते फेनफूल का जल है,
नुँह, घेरे का निर्जन तट है
पोतहीन पर
हम विकल्प के वल्कल में संशय विष पीड़ित
किसी भग्न मस्तूल सरीखे खड़े हुए हैं
वृक्ष-भाव से
संकल्पहीन पर—
अब भी हममें प्रश्न शेष हैं

कहो क्या करें मुट्ठी में इस कसी रेत का ?
किसे जलाये ?
कहो क्या करें खुले हुए इस अग्निनेत्र का ?
हमारे संकल्पित इस तीर्थकुंड से लपट उठ रही
सती उठाये हम पूरी प्रदक्षिणा करके लौटे,
किन्तु हमारे मन का
संशय, दर्प और विद्रोह वही है

कैसे हम तब झुकते
ओ मेरी गति !
कैसे अब झुक पायें ??

फिर से लौट-लौट आने को
ज्वार गये वे,
उर का घाव गहन करने को
जलयान गये वे

स्वीकारो यह शंखजल देय हमारा—
हम ज्वारों से वंचित
अकिंचन जलयानों से
खंडित पाथर तट का प्रेय हमारा।

नागार्जुन

३२
कालिदास के प्रति

कालिदास सच-सच बतलाना !

इंद्रमती के मृत्युशोक से
अज रोया या तुम रोए थे ?
कालिदास, सच-सच बतलाना !

शिवजी की तीसरी आँख से
निकली हुई महाज्वाला में
घृतमिश्रित सूखी समिधासम

कामदेव जब भस्म हो गया
तुमने ही तो दृग धोए थे
कालिदास, सच-सच बतलाना
रति रोई या तुम रोए थे ?

वर्षा ऋतु की स्निग्ध भूमिका
प्रथम दिवस आषाढ़ मास का
देख गगन में श्याम घनघटा
विधुर यक्ष का मन जब उचटा
चित्रकूट के सुभग शिखर पर
खड़े-खड़े तब हाथ जोड़कर
उस बेचारे ने भेजा था
जिनके ही द्वारा संदेशा,
उन पुष्करावर्त मेघों का
साथी बनकर उड़नेवाले—

कालिदास, सच-सच बतलाना !—
पर-पीड़ा से पूर-पूर हो
थक-थककर औ' चूर-चूर हो
अमल-धवल गिरि के शिखरों पर
प्रियवर तुम कब तक सोए थे ?
कालिदास, सच-सच बतलाना !
रोया यक्ष कि तुम रोए थे ?

नामवरसिंह | ३३

फागुनी शाम

फागुनी शाम
अँगूरी उजास
बतास में जंगली गंध का डूबना।
ऐंठती पीर में
दूर, बराह से
जंगलों के सुनसान का कूँथना।
बेघर बेपहचान
दो राहियों का
नतशीश न देखना-पूछना।
शाल की पंक्तियोंवाली
निचाट सी राह में
घूमना-घूमना-घूमना।

निराला | ३४

गीत

बादल रे—जी तड़पे!
किये उपाय सैकड़ों तन के,
मन के; चरण मिलें सज्जन के;

व्यर्थ प्रार्थना जैसे अब है
पञ्जर-पिञ्जर करके।

अब अँधियाली ही बढ़ती है,
छाया पर छाया चढ़ती है;
प्राणों के घन श्याम गगन से
बूँदों कभी न बरसे।

छिप जाती है छवि बिजली में,
सरसर से दबती है ही में,
बूँदों की छन-छन से उन्मन
प्राण न मेरे हरसे।

३५

नीरज

उद्जन बम्ब के परीक्षण पर

अब हो जाओ तैयार साथियो! देर न हो
दुश्मन ने फिर बारूदी बिगुल बजाया है
बेमौसम फिर इस नये चमन के फूलों पर
सर कफ़न बाँधनेवाला मौसम आया है।
फिर बननेवाला है जग मुरदों का पड़ाव
फिर बिकनेवाला है लोहू बाजारों में,
करनेवाली है मौत मरघटों का सिंगार,
सोनेवाली है फिर बहार पतझारों में।
फिर सूरजमुखी सुबह के आनन की लाली

काली होनेवाली है धूम घटाओं से,
फिर नाज़ुक फूलोंवाली धरती की थाली
मरनेवाली है क़ब्रों, कफ़न, चिताओं से।
जिनके माथे की बेंदी मन की हँसी-ख़ुशी,
जिनके कर की मेंहदी घर की उजियाली है,
जिनके पग की पायल आँगन की चहल-पहल,
जिनकी पीली चुनरी होली, दीवाली है,
अपनी उन शोभा, सीता, राधा, लक्ष्मी के
फिर झुके घूँघटों के खुल जाने का डर है,
अपनी उन हरिनी सी कन्याओं बहिनों पर
ख़ूँख़ार भेड़ियों के चढ़ आने का डर है।
सारी थकान की दवा कि जिनकी किलकारी,
सब चिन्ताओं का हल जिनका चंचलपन है,
सारी साधों का सुख जिनका तुतलाता मुख
सारे बन्धन की मुक्ति कि जिनकी चितवन है,
अपने आँगन के उन शैतान चिराग़ों के
हाथों का दूध-कटोरा छिननेवाला है,
अपने दरवाज़े के उन सुन्दर फूलों से
दुश्मन भालों की माला बुननेवाला है।
जिन खेतों में बैठा मुस्काता है भविष्य,
जिन खलिहानों में लिखी जा रही युग-गीता,
जिस अमराई में झूल रहा इतिहास नया,
जिन बाग़ों की हर ऋतुरानी है परिणीता,
उन सब पर एक बार फिर असमय अनजाने
छानेवाली है स्याह नक़ाबी, खामोशी,
उन सब पर एक बार फिर भरी दुपहरी में,
आनेवाली है ज़हर बुझाई बेहोशी।

वे पनघट, जिनकी पाँव फिसलनी सीढ़ी पर
छलकी जाने कितने नयनों की रस-गगरी,
वे कुंज-कदम्ब की जिनकी ठंडी छाया में,
लुट गई न जाने किस किसके मन की नगरी,
वह ताज कि जिसकी पूनोंवाली रातों में
जागे चुम्बन जाने कितनी मुमताज़ों के,
वह यमुना-तट जिसकी लहरों में बँधे हुए
आलिंगन जाने कितने शोख़ तक़ाज़ों के,
वे चौपालें, चौपालों के जलते अलाव,
अब तक कहानियाँ जहाँ पड़ीं 'बत्तीसी' की,
चुटकुले बीरबल के, ख़ुसरो की पहेलियाँ,
है अब तक जिनकी हँसी जहाँ पर हँसती-सी,
वे चरागाह जिनकी हरियाली मख़मल पर
अपने कितने बैलों की घंटी हिली-डुली
वे बँबुरी बन जिनके काँटों की नोकों से
जाने कितने घावों को राहत-राह मिली,
लेकिन अब उन पर चाँद नहीं मुस्कायेगा
अब नहीं सजेगी वहाँ सितारों की चोली,
कूकते जहाँ कोयल न कभी थक पाती थी
बोलेगी सिर्फ़ वहाँ अब ख़ून भरी गोली,
वे याद मदरसे होंगे, जिनके टाटों पर
जाने कितने टैगोर बैठकर पढ़ आये,
भूली तो होंगी नहीं पाठशालाएँ वे,
उपनिषद् न जिनकी याद 'कौमुदी' कर पाये,
वह ज्ञान मगर होगा अब घूरे की ढेरी,
वे छप्पर, वे खपरैलें धुँआ उड़ायेंगी,
टैगोर, गोर्की, तुलसी के वे कविताएँ

पथ पर दो-दो दानों को कर फैलायेंगी।
हाँ, वह अपना छोटा सा तुलसी का बिरवा,
जिस पर घर की हर चूड़ी अर्घ्य चढ़ाती है,
वह सैय्यद का आला जिस जगह कि हर मुश्किल
दो चार बताशों में बस हल हो जाती है,
वे मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर, वे देवालय,
जो युग-युग की विश्वास भावना के प्रतीक,
इंजील, क़ुरान, बाइबिल, गीता, रामायण
जो लिए जा रहे संस्कृति का रथ लीक-लीक,
उन सब पर बुरी निगाह आज है दुश्मन की,
उन सब पर आग बिछाने का उसका मन है,
रह जाये मानवता का नाम न शेष कहीं
ऐसा सैलाब बुलाने का उसका मन है।
वह-जो पहाड़ पर खड़ा आँधियों को थामे,
वह-जो समुंदरों को बाँहों में झुला रहा,
वह-जो विधवा चट्टानों की भर रहा माँग,
वह-जो रेगिस्तानों को पानी पिला रहा,
वह-जो जवानियों पर उबाल बनकर छाया,
वह-जो शिशु के हाथों का दही-बतासा है,
जल रहा द्वार की दीवट पर जो बन चिराग़,
जो जग के सब इतिहासों की परिभाषा है,
कर रही अजंता पूजा जिसकी छेनी की,
यह ताजमहल जिसके हाथों का दर्पण है
यह क़ुतुब-लाट, जिसकी उँगली की करामात,
यह पिरामिडों का घर जिसका तन-रजकण है,
वह-जो सितार का तार, बहारों की बहार,
वह-जो कलियों फूलों का जादू-टोना है--

वह-जो बगिया का बौर, कौर सबके मुँह का,
वह-जो रातों में चाँदी, दिन में सोना है,
वह-जो बचपन का बचपन, यौवन का यौवन
वह-जो सिंदूर-संगीत, गीत है पायल का,
वह-जो चुनरी का रंग, उमंगों का उभार
वह-जो नयनों की लाज, स्वप्न है काजल का,
वह-जो मुस्करा रहा गेहूँ की बालों में,
वह-जो उड़ रहा धुँआ बनकर चिमनीघर से,
वह-जो सी रहा नदी की जलवाली साड़ी
वह छीन रहा जो मोती लहरों के कर से,
वह जिसके पैरों की परछाँईं है ज़मीन,
वह जिसका चौड़ा सा माथा है यह अकास,
वह जिसकी दसों उँगलियाँ दसों दिशाएँ हैं,
वह जिसका हँसना सृजन, क्रुद्ध होना विनाश,
मुस्कानोंवाला चन्दा जिसका कंठहार,
लपटोंवाला सूरज जिसका सिंहासन है,
बूँदोंवाला बादल जिसका तन-नीर-चीर
अक्षय फूलोंवाला जिसका घर-आँगन है,
उस श्रम को, उस मानव के पुण्य-पसीने को
दानव ने लेकर बम्ब हाथ ललकारा है,
सदियों की संस्कृति पर, सदियों के गौरव पर
लाशें बटोरनेवाला हाथ पसारा है।
लेकिन घबराने की है बात नहीं साथी!
एशिया धधकते हुए पहाड़ों का घर है,
है मर्द चीन के हाथ उधर दौज का चाँद,
इस ओर हिमालय की मुट्ठी में दिनकर है,
धुँधलाये फिर न कभी रोशनी चिरागों की,

इसलिए शपथ है तुम्हें तुम्हारे हर सर की
जिस रोज़ एशिया पर कोई बादल छाये,
वह शीश तुम्हारा ही हो जो सबसे पहले
दुश्मन के हाथों की तलवार मोड़ आये।

नीलकंठ तिवारी

३६
निवेदन

बीन मेरी मौन, कब झंकृत करोगी ?
प्रेम-पाटल-पुष्प-प्रतिमे !

सत्यमय सौंदर्य की अयि निष्कलुष, शुचि छवि-मधुरिमे !
मैं झुका आराधना सा,

तुम वरद आशीष-करतल, क्या न नत शिर पर धरोगी ?
बीन मेरी मौन, कब झंकृत करोगी ?

रात्रि में तुम झिलमिलातीं, दूर की नीहारिका सी
पंथ-भूले बाल-दृग में, अश्रु की लघु तारिका सी

मैं भ्रमर, तुम पंखुरी की छाँह सी छहरा रही हो
दूर होकर आँसुओं में और उतरी जा रही हो

करुण लय की हूक को पिक-कूक सी झंकारती तुम
इस पुजारी कवि-कुटी की, अमर ज्योतित आरती तुम

कब हृदय का तम हरोगी ?
बीन मेरी मौन, कब झंकृत करोगी ?

खोज में पथ-धूलि से भी, फूल मैं चुनता रहा हूँ
पत्थरों के मौन से भी चरण-ध्वनि सुनता रहा हूँ

मैं स्वयं के नयन-जल में, जलज बन पलता रहा हूँ
मरण-जीवन-पंथ पर गति-प्राण बन चलता रहा हूँ

धर कणित पग, मूक वाणी में रणित गति कब भरोगी ?
बीन मेरी मौन, कब झंकृत करोगी ?

प्रभाकर माचवे

३७
फिर से उज्जयिनी देखी

छह वर्षों के बाद मालवे में मैं आया
देखा जीवन उसी मंद-मंथर गति में था
छिप्रा की धारा ने भक्तों की संख्या, शैवाल बढ़ाया
तट पर घुल बढ़ती आयी कगार की रेता
मंदिर, घाट, पुरातन सूने
इमली, बरगद, नीम, मौन सब
भग्न पैड़ियाँ, उखड़े चूने
रक्षा उनकी करे कौन अब ?

बचपन में कमलों का जिसमें बन-सा देखा
धूल फाँकता वही ताल हर सिद्धि बभूखा
आज रह गई क्षिप्रा केवल नाम, अचीन्ही लिपि की रेखा
रस उसका सदियों ने सोखा, आशयहीन पात्र वह सूखा
सरोष कहती—'नहीं करेगा भविष्यत् क्षमा
महाकाल के प्रांगण में भैरव की प्रतिमा !'

संस्कृति, धर्म, सनातन की इतनी सारी रट
कितने स्तोत्र प्रशस्ति गान, वैतालिक गाये
विक्रम, कालिदास, मालविका, शंकु शर्विलक शठ के सोरठ,
भोज, मुंज, वैताल, भर्तृहरि, पढ़े कसीदे, नहीं अघाये !
आज कहानी मात्र बची है : पद्मा, उदयन, वासवदत्ता
कई बर्बरक औ' आक्रामक आये, हूण, तुरुष्क, यवन, खश
सदियों ने चोले बदले हैं, बदल चुकी है सत्ता, वे क्षता
कई बहादुरशाह आ चुके, कई मिहिरगुल, कई अल्तमश !
किन्तु अवन्तिसुन्दरी वैसी ही अज्ञातजरा यौवन-अप्रतिहत
मदिर मल्लिका, मधुर मालती, पारिजात-यूथी सौरभ-श्लथ;
वही अलक्तक, कुंकुम-अक्षत, चंदन-अगुरु, अनाहत,
वही चाँदनी केदारा, व्रतमय महाश्वेता नर्त्तन-रत !
अमरण प्रीति, चिरंतन सुन्दरता का कर लेगी क्या सेना ?
चारुदत्त हैं यूप-बँधे, पर एकनिष्ठ है वसन्तसेना !

गेहूँ, चना, कपास खेत में, खड़ी हुई गौरी तन्वंगी
माथे बोरा, हाथ में चुड़ला, हरी काचली, सुरख चूनरी
कोई किशन, विशन या भेरू छेड़ रहा मनभरी बाँसुरी
ठिठकी ज्यों बदली शतरंगी खोज रही है अपना संगी।

हाँ, आर्थिक विपन्नता, संकट, घोर सांस्कृतिक ह्रासकाल यह
फिर भी यह अलक्ष सौन्दर्याकुल मानव कैसा है प्राणी ?
बड़ी ग़रीबी हथिनी-सी है, कुचले इच्छा के नलिन-नाल वह।
फिर भी खोज रहा निर्झर पथ, नीरव प्रणय निरंतर प्राणी।
अब भी ज्योत्स्ना वातायन से सटकर करती कानबात क्यों
उन सौधों पर लिपट-सिमिटकर चलती क्षिप्रा-चटुलवात क्यों?
मालव के मन में माना हैं कई उमंगें दमित, अनामिक
चुल्लू भर पानी में डुबकी लगा रहा है पापी भाविक !
कुछ गरिमा खो गयी, किन्तु कोई अणिमा अब भी है बाक़ी !
हुआ अल्पक्षण महाकाल-सा ऐसी झलकें, ऐसी झाँकी !

प्रयागनारायण त्रिपाठी

३८
समानान्तर लकीरें

मैं अभी तक भी न छू पाया तुम्हें
क्योंकि ढह पाई नहीं अब तक
हमारे बीच की कुछ भीतियाँ
यद्यपि बहुत झीनी
पवन-सी क्षीण

अपरिचय की एक थी
वह ढह चुकी है
कर चुकी है दृष्टि को छू दृष्टि
परिचय ख़ूब
पर अभी हैं और भी

जैसे कि कायरता
(कि आत्मा की अटल जो माँग
तुम बस खोजती रहतीं
उसी से भागने की राह)
और संशय
(यह कि पीपर-पात सा चल है
पुरुष-मन !)
और भय
('जग क्या कहेगा ?'
क्षुद्र जग !)
और शायद पाप
(क्योंकि केवल ग्रन्थि-बंधन-दंभ
ही है पुण्य की ध्रुव माप)
तो यही हो
ओ सती !

तो नहीं छू पाय तुमको
ओ अछूती पुण्य !
मेरे स्पर्श का अंगार
तो सदा चलती रहो तुम
तो सदा चलते रहें ये स्वप्न
तो सदा चलता रहूँ मैं
ये समानान्तर लकीरें तीन
(शायद चार)

३६

चोटी की बरफ़

स्फटिक निर्मल
और दर्पण-स्वच्छ,
हे हिम-खंड, शीतल औ समुज्ज्वल,
तुम झलकते इस तरह हो
चाँदनी जैसे जमी है
या गला चाँदी तुम्हारे
रूप में ढाली गई है।

स्फटिक निर्मल
और दर्पण-स्वच्छ
हे हिम-खंड शीतल औ समुज्ज्वल
जब तलक गल पिघल
नीचे को ढलक कर
तुम न मिट्टी से मिलोगे
तब तलक तुम
तृणहरित बन
व्यक्त धरती का नहीं रोमांच
हरगिज़ कर सकोगे,
औ न उसके हास बन
रंगीन कलियों और फूलों में खिलोगे
औ न उसकी वेदना के
अश्रु बन कर

प्रात पलकों में
पखुरियों के पलोगे।

जड़ सुयश
निर्जीव कीर्तिकलाप
औ मुर्दा विशेषण
का तुम्हें अभिमान,
तो आदर्श तुम मेरे नहीं हो।

पंकमय,
सकलंक मैं
मिट्टी लिए मैं अंक में।
मिट्टी—
कि जो गाती
कि जो रोती
कि जो है जागती-सोती,
कि जो है पाप में धँसती
कि जो है पाप को धोती,
कि जो पल-पल बदलती है,
कि जिसमें जिन्दगी की गत मचलती है।

तुम्हें लेकिन गुमान—
ली समय ने
साँस पहली
जिस दिवस से
तुम चमकते
आ रहे हो
स्फटिक-दर्पण के समान

मूढ़, तुमने कब दिया है इम्तहान ?
जो विधाता ने दिया था फेंक
गुण वह एक
हाथों दाब
छाती से सटाए

तुम सदा से हो चले आये
तुम्हारा बस यही आख्यान ?
उसका क्या किया उपयोग तुमने,
भोग तुमने ?
प्रश्न पूछा जायगा, सोचा जवाब ?

उतर आओ
और मिट्टी में सनो,
जिन्दा बनो,
यह कोढ़ छोड़ो,
रंग लाओ,
खिलखिलाओ,
महमहाओ,
तोड़ते हैं प्रेयसी-प्रियतम तुम्हें,
सौभाग्य समझो,
हाथ आओ,
साथ जाओ।

बलवीरसिंह 'रंग'

४०

गीत

अब तो नूतन गीत पुराने-से लगते हैं!
गीतों के स्वर नए-नए पर छन्द वही है,
छन्दों में रागों का अन्तर्द्वन्द्व वही है;
चिन्तन से अंकुरित विचारों की बगिया में—
नए-नए हैं फूल मगर मकरन्द वही है;
जब आती कल्पना सत्य की तपोभूमि पर
अपने ही सपने अनजाने-से लगते हैं।
ध्वंस बहुत ही सहज मगर निर्माण कठिन है,
पतन बहुत आसान मगर उत्थान कठिन है,
समता और विषमताओं के कोलाहल में—
अपने और पराए की पहचान कठिन है;
दूर देश की पगडंडी पर मिलनेवाले
पूर्ण अपरिचित भी पहचाने-से लगते हैं।
जो न समझ में आए, ऐसी बात नहीं हूँ,
बातों में जो बीते, ऐसी रात नहीं हूँ;
झंझा के झोंके मेरा क्या कर पाएँगे—
पर्वत-सा हूँ अडिग, कुसुम-अवदात नहीं हूँ,
सन्देहों के अन्धकार से घिरी निशा में—
आश्वासन भी आज बहाने-से लगते हैं।
अब तो नूतन गीत पुराने-से लगते हैं!

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

४१

पंख खोल, पंख तोल

पंख खोल, पंख तोल, द्विज मनसिज, पंख खोल;
सुन रे, उड्डीयन के अभिमंत्रित गगन बोल।

अन्न-कण-चयन में ही नित त्वदीय चंचु पगी;
तृण-तृण के प्रेक्षण में संतत तव दृष्टि लगी;
निशि-वासर तव हिय में इह लीला-लौ सुलगी;
टपक रहे तव दृग से व्यथा-अश्रु गोल-गोल,
पंख खोल, पंख तोल, द्विज मनसिज, पंख खोल।

यह तेरा खगी-मोह और नीड़-निलय-वास,
यह तेरी सतत रहनि पार्थिव के आस-पास,
ये न तव स्वभाव अरे, इनका तू नहीं दास;
हेर गगन, उन्मुख बन, अंतर की ग्रंथि खोल।
सुन-सुन उड्डीयन के अभिमंत्रित गगन बोल।

सोच रहा तू: रज-कण-निर्मित तव गात्र, पत्र;
सोच रहा: भू-अंकुर-तृण है तव शिरश्छत्र,
कहता होगा कि भूमि-भाव व्याप्त यत्र-तत्र;
पर भोले, क्यों भूला निज चेतनता अमोल?
पंख खोल, पंख तोल, द्विज मनसिज, पंख खोल।

तव कानन, तव पादप, तव कुलाय सीमित हैं,
प्राण अवधि, जीवन निधि के उपाय सीमित हैं,
पर, क्या निःसीमा के भाव न अन्तर्हित हैं ?
भिगो रही तुझे नित्य नेति की तरंग लोल;
सुन-सुन उड्डीयन के अभिमंत्रित गगन बोल।

आज तुझे अंबर से अमर निमंत्रण आया;
अथवा, निःसीमा से उमड़ एक घन आया,—
जिसका रव मंद्र, मदिर, उन्मन वन-वन छाया;
उड़ चल, रे, उड़ चल, अब छोड़ वृंत का हिंडोल,
सुन-सुन उड्डीयन के अभिमंत्रित गगन बोल।

बालकृष्ण राव | ४२

कविता

कल के नीरस शब्दों में करनी बात आज की,
अभिव्यक्ति भावना अपनी, भाषा में समाज की—
है विवश किंतु कर देता कवि को उसका ही स्वर,
माना कहना है कठिन, किन्तु है मौन कठिनतर।
कविता साधन ही नहीं, साधना, साध्य सभी कुछ,
मन्दिर, वंदना, प्रसाद और आराध्य सभी कुछ;
भ्रम है कहना निर्माण किया कविता का कवि ने,
रचना की थी या जगा दिया कमलों को रवि ने ?

यह दूर हटा दो शब्दकोष, है व्यर्थ खोजना—
इस मुद्रित पुस्तक में यह जागृत शब्द योजना;
मेरी कविता का 'आशय तुम इस क्षण से पूछो,
सुन सको प्रतिध्वनि मन में यदि तो मन से पूछो।
मिल सकता तुमसे यदि मैं इतनी दूर न होता,
शब्दों का आश्रय लेने पर मजबूर न होता—
साँसों में साकार स्वयं बन जाती कविता,
तुम सुनते मेरी बात स्वयं बन जाती कविता।

ब्रजकिशोर नारायण

४२
व्यक्तिगत

सुना है कि आए थे वह मुझसे मिलने
यह अच्छा हुआ जो मिला ही नहीं मैं!
मिली है उसी दिन से लेकिन यह दुविधा
कि मुरझा गया! या खिला ही नहीं मैं!

तुम आए अचानक जो यूँ, मैं सोचने लगा—
यह तुम हो या कि ख़ुद ही मेरा ख़्वाब खड़ा है!

हमारी हँसी पे है हँसता जमाना
ये आँसू हमारे उसी की हँसी हैं!

नज़र की ज़ुबाँ जिस घड़ी से खुली है
उसी वक्त से मैं तो गुम हो गया हूँ!
'बढ़ा जा रहा प्यार!'—कहती है दुनिया
मगर 'आप' से मैं तो 'तुम' हो गया हूँ!

भवानीप्रसाद मिश्र

४४
स्मृति का सहारा

जब चलते-चलते राह कहीं चुक जाती है,
तब भौंहें तनती हैं, गर्दन खिंच जाती है
और हाथ लगा कर माथे पर,
किरनों की झिलमिल को चीरे,
हम राह समझने की कोशिश
करते ही हैं, जल्दी, धीरे!

मैं विगत एक क्षण तक
वैसा ही राही था
पद-चिह्न-शून्य
बेसड़क जगह वह कोई-सी।
लगती थी मुझको साँस
जहाँ पर खोई-सी,
थे जहाँ परस्पर रुँधे
बंधनों के प्रकाश, इतने ज्यादा
दो डग आगे भी देख सकूँ
ना-मुमकिन था,

मैं सोच रहा था,
शाम भयानक आएगी
उस जगह
जहाँ ऐसा दिन था।

तेरी स्मृति का मगर सहारा ऐसा कुछ,
हो झुकी हथेली का, आँखों पर जैसा कुछ !
इस समय दूर तक,
राह और मैदान
और नदियाँ, पहाड़ और झाड़
न जाने कितना कुछ
दिखता है मुझको
और मुझे दिखता है
इस क्षण जितना कुछ,
सब जाना और पहचाना है !
सौ बार गया-आया हूँ जैसे इस पथ से,
पैदल, गाड़ी से, गज से,
घोड़े से, रथ से।

भारत भूषण अग्रवाल

४५
मरण-संगियों का गीत

नहीं किसी से माँगी भीख, नहीं भूख से निकली चीख़
जिये शान्ति से, जब तक जिया गया;

बन न सके साथी जनपथ के, छाती के ऊपर युग-रथ के
पहिये फिरे, और सँग में यह हिया गया !

हम कल्चर के हामी थे, लेकिन कपड़े दामी थे,
बेचा मन, फिर भी तन ढाँक न पाये;
छोड़ न पाये शर्म-ह्या, जब जुलूस द्वार से गया,
हम खिड़की से भी तो झाँक न पाये !

प्राणों में था अमित प्रकाश, मिल न सका लेकिन अवकाश,
एक किरण भी बाँट न पाये, हाय !
क्षितिज-पार का था आह्वान, अटके पर दफ़्तर में प्राण,
आयु कट गयी पीते-पीते चाय !

नहीं कभी भूले संघर्ष, करते रहे विचार-विमर्ष,
प्रबल तर्क थे दोनों के, हम क्या करते ?
कभी न हो पाया निश्चय, होगी किसकी अंतिम जय,
भूल न कर बैठें, हम सदा रहे डरते !

मदन वात्स्यायन | ४६

दूज का चाँद

साँझ की रोशनी घट रही है,
दूज का चाँद दिपता जा रहा है ।
धुले आकाश सा, भीगे कपड़े सा,
मेरी भीगी आँखों में और भी गहरा होता जाता है तेरी

तस्वीर का रंग।
प्रियतमे, तेरी याद आ रही है।

कहीं रेशेदार, बर्फ़ की पतली परत से कहीं, कहीं पफ़ जैसे,
हल्के मलमली, रेशमी वज़नदार, ये बादल;
तेरे नेकलेस सा चाँद
दिपता जाता है मानों स्वर्ग-गङ्गा में हमारी ओर गिर रहा हो।
चारु-स्मिते, तेरी याद आ रही है।

स्वर्ण-सेंवार जैसे पीले पड़ गये सन्ध्याकाश के ये घन,
गमले की किसी मछली सा यह चाँद सज गया।
सोने की घास पर अधूरा ही छूट गया है
खिलती हुई ज्योति-जूहियों का यह हार।
शकुन्तले, तेरी याद आ रही है।

बादलों के पीले-नीले-लाल पर्दों को
हटा-हटाकर, इस तरफ़, उस तरफ़,
जिसे आकुल सा ढूँढता फिरता है चाँद,
लो, वह तारिका तो कब से उस ओर हँस रही है।
स्वस्ति की माँ, तेरी याद आ रही है।

एक, दो, तीन, चार और पाँच,
खुल-खुलकर ये फूल आ गिरे;
बहता जाता है कहीं से टूटकर
पश्चिम की धारा में स्वर्ण-केश का एक तार।
सुकेशी, तेरी याद आ रही है।

मणियर साँप सी उठती है लम्बी, पतली, कारख़ाने की भाप,
गंगा के फेन सी छितरा जाती है;

स्वर्ग के बादलों में नहाकर पृथ्वी की गंगा में मँजता है चाँद।
चिमनी के झरोखे पर सजता है चाँद।
उर-बसी, तेरी याद आ रही है।

दूर पटने से आती टेलिफ़ोन की दो लाइनों को जकड़कर
(मेरे हाथ सा) ठमकता है।
ठुमकता है मिज़राब सा,
कोयल के कंठ से छेड़ता सा एक मन्द्र, मध्यरात्रि का, सरगम।
मेरी बीवी, तेरी याद आ रही है।

एक तार, दो तार,—किस नाज़ से उतरता है चाँद!
सुबह की पीली धूप में दीप्त नीम की हल्की पत्ती-सा
छूटकर बयार में हल्के-हल्के तिरता है।
टँगा है, रुक गया है।
सु-भ्रु, तेरी याद आ रही है।

ढल रहा है,
तेरे साथ वापस जाती ट्रेन की रोशनी सा खल रहा है,
क्षितिज पर, छिपता जाता यह तेरे बिना चाँद—
उस डाकिये सा जो खिड़की से दिखकर दरवाज़े के सामने से
चलता चला जाता है।

यक्षिणी, तेरी याद आ रही है।
किसी शाम को तुम बिना तार दिये ही आ गई होती हो, अरे!
पर या ख़ुदा, कल सुबह ही मिल जाय तेरा तार!
या कि 'तूफ़ान' लेट हो
और तुम अभी ही आ रही होओ।
प्राण, तेरी याद आ रही है।

मनोहर श्याम जोशी | ४७

उद्‌जन-बम के युग में

इस तोतापंखी कमरे में नीलम-मोती बिखराते हम,
मोरपंख हिलाते हम और श्वेत शंख बजाते हम,
चाँद डाल में
चाँद ताल में
चाँद-चाँद में मुस्काते हम।
कभी, बहुत पहले कभी,
शायद यही छटा एक कविता बन सकती थी।
इसका वर्णन कर,
इसके कानों में रुपहले रूपकों के झूमर डालकर,
इसकी आँखों में अलंकार का काजर डालकर,
चिपका कर कल्पना की मद्रासी बिंदिया इसके उन्नत भाल पर,
और आँखों ही आँखों में पूछे कुछ प्रश्नों के मूक उत्तर
इसकी फैली गदोलियों में थैली-झोलियों में भर-भर कर
मैं कभी,
बहुत पहले कभी, शायद कवि बन सकता था।
मेरी काव्यकृति की प्रेरणा तू
शायद कविप्रिया बन सकती थी।
कभी, बहुत पहले कभी,
शायद यही घटा एक कविता बन सकती थी।
पर अब नहीं, नहीं अब नहीं

क्योंकि धक-धक-धक दिल के टेलिप्रिंटर पर
अक्षर-अक्षर कर
छप-छप जाती है यह फ्लैश खबर
कि सावधान
लो ! अब विराट घृणा के कुंचित ललाट का धीरज छूटता है !
लो ! अब उद्जन के परम कण का सूर्य-सा शक्ति-स्रोत फूटता है !
हो सावधान !
ओ आधे-भगवान : इंसान !
अब दूर कहीं बहुत-बहुत-बहुत दूर
शुरू होती है वह अनंत विध्वंस-प्रक्रिया-लड़ी
जिसमें न रह पायेगी यह अर्ध-चेतना की मीनार खड़ी,
जिसमें हो जायेंगे ये सबके सब काँच के सपने चकनाचूर !
खबरदार !
आ रहा ज्वार !
ये आधे-आधे वादे सब बह जायेंगे !
ये पुंसत्वहीन इरादे सब धरे रह जायेंगे !
ये ताश पत्तों के महल सब के सब ढह जायेंगे !
ये दुर्बल बाँहों के अनिश्चित आलिंगन सब मर जायेंगे !
वे मोम-मुलायम प्रश्न जिन्हें तुम मुस्कुरा कर झेलते थे
जो तुम्हारे ओठों पर खिखियाते थे, खेलते थे,
सबके सब अब ताप-तर्जनी तले दब जायेंगे, गल जायेंगे !
वे फ़ौलादी प्रश्न जिन्हें पूछते तुम हिचकते थे, डरते थे,
जिनके संदेहहीन अस्तित्व पर तुम संदेह प्रकट करते थे;
अब न्यूट्रोन की नोक पर चढ़ कर आयेंगे
तुम्हारे पिलपिले दिलों में धँस-धँस जायेंगे !
तुम्हारी ओस-सी आहों पर, नरम आँसुओं के गरम-मरम पर
प्रिया के प्यारे स्मरण पर, रूमानी फिल्म के समर्पण-मरण पर,

अंडाकार घेरों में बाहें उलझाये नाचते
दूत यम के हँस-हँस जायेंगे !
सावधान ! अब इस जहान को जन नहीं उद्जन के भारी
दिल बसायेंगे !
यह क्षुद्र प्रेरणा, यह क्षुद्र प्यार,
यह क्षुद्र जीत, यह क्षुद्र हार,
यह क्षुद्र संतोष, ये क्षुद्र स्वप्न,
ये कभी-कभी का मधुर मिलन,
यह कभी-कभी का सुरा-पान,
ये कभी-कभी के प्रीत गान
ये कभी-कभी के आलिंगन चुम्बन,
प्रिय, फ्लैश पाते ही ये सब सहसा अर्थहीन जाते हैं बन।
पढ़ता है मन जब यह ख़बर
प्रिय सहसा कुम्हला जाती है
अधखिली कली पंख-हल्की कविता की,
जाती है मर ताज़ी तितली तरल प्रेरणा की,
आती है यह समझ
कि अब बस कविता वही होगी
जो इस विराट घृणा के समक्ष
किसी इतनी ही विराट प्रीत का सत्य रखेगी,
कवि बस वही होगा जो उस सत्य को खोजेगा,
कवि-प्रिया बस वही होगी जो उसकी खोज के पथ को
प्रकाशवान करेगी।
अब कविता का हस्तवरद बनाना होगा।
अब सातों समुद्रों पर, माँ धरा पर, मोटा चदरा फैलाना
होगा।
नीले निर्मल जल को, हरी भरी धरती को,

रेडियमधर्मी कुकर्मी कृत्रिम बादल की बेशरमी से
बचाना होगा !
अन्यथा ये कल्लोल-विभोर मछलियाँ,
ये मैथुनमग्न कबूतरियाँ,
सब मर जायेंगी, मर जायेंगी !
न कवि रह सकेंगे
न कविताएँ ही रह पायेंगी !

महादेवी वर्मा | ४८

गीत

लपटों का अंशुक ओढ़ यामिनी आई।
धुनकर तारे कर लिए तूल से झीने
फिर बुने तार सितश्याम चाँदनी भीने,
चन्दन बूँदों से सजा सुरमई चूनर,
पिघली ज्वाला के रंगों में रँगवाई।

घन अगरु धूमलेखा से लहरे कुन्तल,
उजली चितवन में उड़े बलाकों के दल,
साँसों में वासित रह-रह सिहर-सिहर कर
सरसर बहती है आभा की पुरवाई।

आँधियाँ पीत पल्लव सी झर बिछ जातीं,
तम की हिलोर सन्देश दिवस का लाती,
पिस गईं बिजलियाँ पथ में रथचक्रों से
उड़-उड़कर पीली रेणु क्षितिज पर छाई,

नभ का कदम्ब दीपक-फूलों में फूला,
दुख का विहंग भू के नीड़ों को भूला,
आतप तन दिन की सप्तरङ्गिणी छाया,
निशि बन, कण-तृण-प्राणों में आज समाई।

जल उठे नयन में स्वप्न, भाल पर श्रम-कण,
दीपित प्रभात की सुधि में जलता है मन,
जीवन मेरा निष्कम्प शिखा दीपक की
लौ से मिल लौ ने अब असीमता पाई।
लपटों का ओढ़ दुकूल निशा मुस्काई।

महेन्द्र भटनागर | ४६

वेदना

घाव पुराने पीड़ा के
जाने अनजाने में सबके
आज हरे गीले सूजे !
रह-रहकर बह जाती असह्य लहर,
मानों बिजली का तीव्र करेंट ठहर
मांस मौन तड़पा देता !
नाली के कीड़ों जैसा इधर-उधर
जग के सारे ओर-छोर घेरे,
हृदय-विदारक
नाशक
मूक आभावों की

धूल भरी अंधी
आँधी बहती जाती !
मर्माहत यौवन चीख़ रहा
रोक भुजाओं से असफल !
आज निराशा के बादल
छाये नभ में उमड़-घुमड़;
जीवन में,
जन-जन-मन में हलचल !
आज युगों के घाव हरे !
हर उर में
दुख-दर्द भरे !

माखनलाल चतुर्वेदी | ५०

बेचैनी

जिसमें क्षुद्रत्व दिखाते हो,
　　　　जिसके पापों के ज्ञाता हो,
जिसको न बोलना आता हो,
　　　　जो केवल अश्रु बहाता हो,

जो अपनों से वनवासी हो,
　　　　जो सेहत का उपवासी हो,
सहते, सहते, सहते, सहते,
　　　　जो होता गया उदासी हो;

ये हाथ जुड़े, यह शीश झुका,
यह देह थकी, यह बैठ गया;
कुमुदिनि की कलियों पर, प्यारे,
चढ़कर आवे मुखचन्द्र नया !

मार्कण्डेय | ५१

मिथ्या

तेरा रूप देता खोल—
मिथ्या बोल की हर पोल।
पर यह बोल भी आराधना है,
झूठ की भी एक अपनी साधना है।
तथ्य का वह रूप भारी झूठ है,
जो पुरातन है, निरा ही ठूँठ है;
लाभ उसका आदि
मिथ्या अहं उसका अंत है,
युग-युगान्तर से बनाता
आदमी को संत है:
पर तुम्हारे झूठ में है
आदमी की चाह
उसके भाव की
मन की नयी पर्वाह,
इसलिए तू बोल !
अमृत घोल !

मैथिलीशरण गुप्त

५२
कवि के प्रति

कवे, हाय तुम क्या जानो, हम कैसे मरा-जिया करते हैं।
खाते तरस जानते यदि तुम, हम चुप अश्रु पिया करते हैं।

कल्पित प्रिया विरह की बाधा,
सहते हो तुम आप अगाधा,
किन्तु यथार्थ अभावों का हम, सिर पर बोझ लिया करते हैं।
कवे, हाय तुम क्या जानो, हम कैसे मरा-जिया करते हैं।

तुममें करुणा ओत-प्रोत है,
हममें उसका नया स्रोत है,
मक्खन-सा कवि-हृदय तुम्हारा, हम पवि-परुष हिया करते हैं।
कवे, हाय तुम क्या जानो, हम कैसे मरा-जिया करते हैं।

कोई यहाँ कमाता है धन,
कोई करता यश का अर्जन,
एक अन्न-कण भी उपजाकर, हम क्या कभी दिया करते हैं।
कवे, हाय तुम क्या जानो, हम कैसे मरा-जिया करते हैं।

सबको प्रिय सुख की उपासना,
रही हमारे लिए वासना,
विवश वृथा हम नर संख्या की वानर-वृद्धि किया करते हैं।
कवे, हाय तुम क्या जानो, हम कैसे मरा-जिया करते हैं।

टुकड़ा एक भूमि का मिलता,
तो हमसे भी जीवन झिलता,
अगति मृत्यु के ही आँगन में, अपना ठौर ठिया करते हैं।
कवे, हाय तुम क्या जानो, हम कैसे मरा-जिया करते हैं।

रघुवीर सहाय

५३
ज्वार हमारा

तट पर रखकर शंख-सीपियाँ चला गया हो ज्वार हमारा
मन पर मुद्रित छोड़ गया हो सुख के चिह्न विकार हमारा।
जब हम कर सब, चुके हुए हों; सह सब, चुके हुए हों;
जब हम कह सब, चुके हुए हों
तब तुम, तब तुम ज्वार हमारी तृष्णा के फिर आना
इस जहाज़ को बन्दर में पहुँचा जाना फिर आकर

तब इस भोगी रोगी संसारी संपृक्त हृदय में
ओ अपनी लालसा गर्व भर जाना
फिर हम निकलें
इस यांत्रिक युग में भी
अपनी जानी-पहचानी नौका के तार-तार पालों को खोले
छलनी-छलनी काठ हमारी और परीक्षित दीक्षित हो ले
यदि डगमग डोले तो डोले—

और किसी दैनिक सूर्योदय में हम देखें
किसी नये बन-ढँके अँधेरे का कोई जलधुला किनारा

जब हम कर सब, चुके हुए हों
सह सब, चुके हुए हों, जब हम कह सब, चुके हुए हों
तब तुम, तब तुम ज्वार हमारी तृष्णा के फिर आना
इस जहाज़ को बन्दर में पहुँचा जाना फिर आकर
रत्नद्वीप है जाना हमको
फिर अपने घर आना हमको
पार किसे करना है यह मुक्तासर, यह भवसागर।

रमाकान्त श्रीवास्तव

५४
चाँदनी का कफ़न

साँझ होते ही
न जाने किस बधिक ने
खून कर डाला उजाले का।
क्षितिज पर रक्त के छींटे छिटककर पड़ गये हैं;
दिग्वधूओं के नयन के नीर को छूकर
समीरण नम हुआ है
औ' उसासों से प्रकम्पित
पेड़ की फुनगी
तड़पती लाश
अब भी प्राण कुछ-कुछ शेष हैं।
पहन काला वस्त्र
सिर से पाँव तक
रात है मातम मनाती

मरसिया पढ़ती
सुरों में झिल्लियों के।
दूर से ही देखते तारक तमाशा;
किन्तु आकर चाँद ने डाला तुरत ही
चाँदनी का कफ़न झीना।

रमानाथ अवस्थी

५५

बुलावा

तुमने मुझे बुलाया है मैं आऊँगा—
बन्द न करना द्वार देर हो जाए तो!

अनगिन साँसों का स्वामी होकर भी निपट अकेला हूँ
पाँव थके हैं दिन भर अपनी माटी के सँग खेला हूँ
चरवाहे की रानी जैसी सुन्दर मेरी राह है
मुझको अपने से ज्यादा सुन्दरता की परवाह है
मेरे आने तक मन में धीरज धरना
चाँद देख लेना यदि मन घबराए तो!

महकी-महकी साँसोंवाले फूल बुलाते हैं मुझे
पर फूलों के सङ्गी-साथी शूल रुलाते हैं मुझे
लेकिन मुझ यात्री को इन शूलों-फूलों से मोह क्या
मेरे मन का हंसा इनसे अनगिन बार छला गया
मुझसे मिलने की आशा में सह लेना—
यदि तुमको दुनिया का दर्द सताए तो!

मेरी मंज़िल पर है रवि की धूप बदलियों की छाया
मैं इन दोनों की सीमाओं के घर में भी सो आया
लेकिन मुझको तो छूना है सीमा उस शृंगार की
जिसके लिए टूटती है हर मूरत इस संसार की
मैं न रहूँ तब मेरे गीतों को सुनना—
जब कोई कोकिल जंगल में गाए तो!

धो देते हैं बादल जब-तब धूल भरे मेरे तन को
लेकिन इनसे बहुत शिकायत है मेरे प्यासे मन को
मरुथल में चाँदनी तैरती लेकिन फूल नहीं खिलते!
मन ने जिनको चाहा अक्सर मन को वही नहीं मिलते
मेरा और तुम्हारा मिलना तो तय है—
शंकित मत होना यदि जग बहकाए तो!

रमा सिंह | ५६
गीत

जागे कैसे यह गीत हो गई मन की पीर नई।
कोई खारी तूफ़ान उठा
मंथन यह कैसा है?
बालू पर खिंची लकीर, लहर—
का कंपन ऐसा है
घबराकर लौटी दृष्टि कूल की रेखा कहाँ गई?

यह कैसा पैना दर्द लिए
बहता पुरवाई है?

बरखा की मस्ती ने, धरती—
की धुन्ध दबाई है।
रिमझिम-सी झरी फुहार, घटा वह सावन की उनई।

बेसुध बिजली कौंधी कितना
पर कहीं नहीं ठहरी,
ले एक बूँद का दाह, नखत
ये निशि भर के प्रहरी,
गुत्थी कितनी अनसुलझ, सूत जो उलझे कई कई।

राजनारायण बिसारिया | ५७

पनिहारिन का गीत

सखी री धीरे-धीरे चल
डगरिया ऊँची नीची रे!

देखती तू कुछ नहीं अरी,
शीश पर धरी भरी गगरी,
सोचकर पनघट की बतियाँ
लाज से मैं हूँ डरी-डरी
पिया ने अपने हाथों से
गगरिया मेरी खींची रे!

सहेली-सँग रँगरेली में
किरन जैसी हँस खेली में,

किसी ने पीछे से चुप-चुप
नयन भर लिए हथेली में,
अँधेरा अब तक छाया है
आँख पल भर को मींची रे !

अधर पर की फुलझड़ी चली
दिवाली पलकों बीच जली,
सभी त्यौहार मना डाले
कपोलों में मेंहदी रच ली,
कि होली भी मैंने खेली
हृदय की बात उलीची रे !

रामकुमार वर्मा

५८
आत्म-परिचय

प्रिय ! तुम्हारे किस सजीले स्वप्न का आकार हूँ मैं !
जो तुम्हारे नेत्र में नत है वही शृंगार हूँ मैं।
एक ही थी दृष्टि जिसमें
सृष्टि मेरी मुसकराई;
थी वही मुसकान जिसमें
हँसी जाकर लौट आई,
थी तुम्हारी गति कि जो
दुख में सदा सुख बन समाई;
भाग्य-रेखा क्षितिज-रेखा
बन प्रभा से जगमगाई,

टूटकर भी नित्य बजता हूँ, तुम्हारा तार हूँ मैं।
प्रिय ! तुम्हारे किस सजीले स्वप्न का आकार हूँ मैं !
कौन सा वह क्षण दिया
जो प्राण में अनुराग बाँधे;
कौन सा वह बल दिया
अनुराग में भी आग बाँधे,
कौन सा साहस दिया जो
भूमि के सब भाग बाँधे,
भूमि-भागों के मुकुट पर
मुसकराता त्याग बाँधे,
सूख कर भी जो हृदय पर खिल रहा है, हार हूँ मैं।
प्रिय ! तुम्हारे किस सजीले स्वप्न का आकार हूँ मैं !
चन्द्र निष्प्रभ हो चला अब
रात ढलती जा रही है;
कौन सा संकेत है जो
साँस चलती जा रही है;
अवधि जितनी कम बची
उतनी मचलती जा रही है
दीप्ति बुझने की नहीं
वह और जलती जा रही है;
मृत्यु को जीवन बनाने का अमिट अधिकार हूँ मैं।
प्रिय ! तुम्हारे किस सजीले स्वप्न का आकार हूँ मैं !

रामगोपाल शर्मा 'रुद्र' | ५६
गीत

एक वस्तु है, एक बिम्ब है, मैं दोनों के बीच—
मेरे दृग दोनों के बीच !

कितना भी मैं चितवन फेरूँ,
चाहे एक किसी को हेरूँ,
उभय बने रहते हैं दृग में—
सर में पंकज-कीच !

एक रूप है, एक चित्र है, मैं दोनों के बीच—
मेरे दृग दोनों के बीच !

मींच भले लूँ लोचन अपने
दोनों बन आते हैं सपने,
मैं क्या खींचूँ, वे ही खिंचकर
लेते हैं मन खींच !

एक सत्य है, एक स्वप्न है, मैं दोनों के बीच—
मेरे दृग दोनों के बीच !

प्यासा थल, जल की आशा में,
रटता है जब खग-भाषा में,
रवि-कर ही तब, घन-गागर भर
जाते हैं बन सींच !

एक ब्रह्म है, एक प्रकृति है, मैं दोनों के बीच—
मेरे दृग दोनों के बीच !

रामदरश मिश्र | ६०

दाग़

झुर-झुर तरु पार चाँद उगा, चाँदनी उमड़ी
डूबीं गंगा, सड़कें, महलों की चोटियाँ
घाट पर भजन डूबे, मन डूबे आँखों में
मन्दिर में घंटों के घोष में लँगोटियाँ
हाट में हँसी कल कल, महुए सा नशा मन्द
खंजन दृग, चपल चरण डूबे हैं पेन में
कफ़न सा लपेटे अभिशाप सा लिए रिक्शा
दौड़ रहीं दाग़ों सी राहों पर रोटियाँ।

रामबहादुर सिंह 'मुक्त' | ६१

वसन्त

सूने पतझर साँस हो चले ढीले-ढीले
आँखों को खुब रही सेमरों की अरुणाई
नंगी ठिठुरी डारों ने ली भर अँगड़ाई
पत्र उच्छिन्न हुए तरुओं के पीले-पीले
निकल कोंपलें रहीं रंग उभरे भड़कीले
फूले बाँस कि बँसवट तक में मस्ती छाई

भीनी-भीनी गमक रही बौरी अमराई
उड़ता है चौताल ढोल के बोल बढ़ीले;
बाँका युवक खोल के निकला चौड़ी छाती
रसमस मसें भीगती आँखें कुछ अलसाई
धनि की अँगिया यौवन से है दरकी जाती
लगे कनखियों उसे देखने लोग लुगाई—
कोयल के क्या कहने किंचित् नहीं लजाती
डाल-डाल जो गाती फिरती है मदमाती !

रामनोहर त्रिपाठी

६२
नयी पौध

लो लहक उठी यह खेतों की तरुणाई है
पत्तों के ऊपर भी पत्ती हरियाई है
पानी देकर सींचो-सींचो-सींचो इसको
जो नयी फ़सल चट्टानों पर उग आई है,

पहला अँखुआ सूरज की आँखों में खरका
ये अंकुर फूटे तोड़-तोड़ दिल पत्थर का
इनको न कहीं गीली या नर्म ज़मीन मिली
आधार नहीं था बादल का या सागर का,

फिर भी जाने कैसे उग आए मेहनत से
फिर भी जाने कैसे पनपे किसके सत से
मुझसे कोई पूछे तो मैं उत्तर दूँगा
ये उगे और पनपे हैं अपनी हिम्मत से,

ये पनपे गर्वीले पेड़ों की छाया में
अनगिन पत्ते काँटे हैं जिनकी काया में
छाँही में इनको समयोचित न प्रकाश मिला
पर शीश झुका विकसे ममता में माया में,

रोका-टोका इनको परछाईं निर्मम ने
फिर हरा ख़ून पी डाला मँहगे मौसम ने
जब और बढ़ी यह नयी पौध फुलबगिया की
झकझोर दिया पछुआ पुरवइया के भ्रम ने,

इस गर्म-धूल ने अक्सर अंकुर को घाला
जब हवा चली बर्फ़ीली मार गयी पाला
मैं किसकी बात करूँ सबने की मनमानी
सूरज ने आँख अनल आग उगल डाला,

परसों जो अंकुर पनपे थे फुलवारी में
जो कल कुछ साँसें भरते थे लाचारी में
वे आज लहलहा उठे उठान नहीं मानी
कोंपल लहकी पत्ते बहके हर क्यारी में,

दुनिया करती इस नयी फ़सल की अगवानी
जिसने इन बाधाओं से हार नहीं मानी
लहराई बिन सींचे पत्थर की छाती पर
शरमाए पेड़ बड़े जो कल थे अभिमानी,

अब आज घमंडी बादल का दिल भर आया
औ' चाँद-सितारों ने भी मोती बिखराया
सूरज ने आँखें मूँदीं हवा चली धीमी
देखो पत्थर का अंतर आज पिघल आया।

रामविलास शर्मा

६३
बाँदा में निराला-जन्म-दिवस समारोह

[वसंत पंचमी, १६५४]

बंजर बुंदेली धरती पर, केन किनारे,
कालिंजर का दुर्ग नहीं है दूर जहाँ से,
कोसल जन-संस्कृति के अंचल की सीमा पर
चित्रकूट की छाया में यह नगर बसा है,
बुद्धिजीवियों में वकील हैं प्रमुख यहाँ पर,
उनमें भी सिरमौर जिन्होंने नाम कमाया
हुनर दिखाया कतल-डकैती के केसों में।
यहीं पुराने, खपरैलों के, छोटे घर में,
बूढ़े मुंशी जी ने पुस्तक-भवन चलाया,
गेंदे के कुछ पेड़ लगाये और साथ में
बंजर धरती में हिन्दी का प्रेम जगाया।
हस्तलिखित पत्रिका निकाली थी तरुणों ने,
कविताओं, लेखों का सुन्दर चयन किया था,
चित्रकार बेचारा टी० बी० से पीड़ित है।
एक दूसरे हिन्दी-प्रेमी चतुर युवक ने
पत्र-पत्रिकाओं से विविध कलाकारों के
चित्र काटकर अलबम एक बना डाला था।
वह अकाल ही महारोग का ग्रास बन गया।

रामावतार त्यागी

६४

गीत

कहो जागरण से ज़रा साँस ले ले,
अभी स्वप्न मेरा अधूरा-अधूरा।
लकीरें बनी हैं न तस्वीर पूरी
अभी ध्यान है साधना है अधूरी
हुआ कल्पना का अभी तक उदय ही
रहा साथ मेरे अभी तक मलय ही
मुझे देवता मत पुरस्कार देना।
अभी यत्न मेरा अधूरा-अधूरा।
अभी चाँद का रथ हुआ है रवाना
कली को न आया अभी मुस्कुराना
अभी तारकों पर उदासी न छाई
दिये ने न माँगी अभी तक बिदाई
प्रभाती न गाओ, सुबह मत बुलाओ,
अभी प्रश्न मेरा अधूरा-अधूरा।
अभी आग है आरती कब बनी है
अभी भावना भारती कब बनी है
मुखर प्रार्थना, मौन अर्चन नहीं है
निवेदन बहुत है समर्पण नहीं है
अभी से कसौटी न मुझको चढ़ाओ,
खरा स्वर्ण मेरा अधूरा-अधूरा।

पवन डाल की पायलों को बजाये
किरण फूल के कुन्तलों को खिलाये
भ्रमर जब चमन को मुरलिया सुनाये
मुझे जब तुम्हारी कभी याद आये
तभी द्वार आकर तभी लौट जाना,
हृदय भग्न मेरा अधूरा-अधूरा।

'राही' | ६५
गीत

मैं उड़नेवाला एक गगन का पंछी
प्यारा हूँ इसलिए किसी की आँख निहारा करती।
मैं आसमान में चाँद सितारों की खेती करता हूँ
लेकिन धरती की माँग सिंदूरी गीतों से भरता हूँ
धरती मेरी आराध्य स्वर्ग तो शंकित मन का फल है
चाहूँ जिसको भगवान बना दूँ मुझ में इतना बल है
मेरी मंज़िल उस ठौर जहाँ मंज़िल बन जाये पंथी
घायल सा हूँ इसलिए किसी की साँस गुहारा करती।
मैं उड़ता रहता देश देश में अपने पंख पसारे
मेरी गति के पीछे पीछे नित चलते साँझ सकारे
मैं प्यास बुझाता प्यासों की आँसू सा मेरा मन है
मैं काटा करता रात मुझे मिलता ढोने को दिन है
मेरे आँसू की बूँदों में सागर की सीमा बन्दी
बादल सा हूँ इसलिए किसी की प्यास पुकारा करती।

मैं प्राणों की धड़कन चुन चुन गीतों को जीवन देता
जब जादू भरी उँगलियों से कोई मुझको छू लेता
गा उठता तन का रोम रोम जीवन सितार बन जाता
सुधियों का घूँघट डाल मुझे जब आ कोई दुलराता
मेरे मानस की थाह स्वयं मेरी मजबूरी बनती
पागल सा हूँ इसलिए किसी की आस उबारा करती।

लक्ष्मीकान्त वर्मा

६६
हस्ताक्षर

मैं आज भी ज़िन्दा हूँ
उस हस्ताक्षर की भाँति
जो मज़ाक मज़ाक में यों ही किसी वट वृक्ष के नीचे
पिकनिक, तफ़रीह में लिख दिया गया था
एक तेज़ धारवाले फ़ौलाद की नोक
अब भी मेरी छाती में गड़ी है
और उस वट-वृक्ष का घायल सीना
उस दाग़ की रक्षा हर मौसम में करता है
छिली हुई पपड़ी पर छाल चढ़ जाती है,
दुधियारे पत्तों में बात बस जाती है,
जटाएँ भी झुकती हैं भूतल को छूती हैं
चरवाहे की वंशी की टेर भटक जाती है
मगर
एक मैं हूँ : फ़ौलाद की थाती लिये
जीता हूँ—
मैं आज भी ज़िन्दा हूँ !

विजयदेव नारायण साही

६७
हिमालय के आँसू

हाँ, देख रहा हूँ मैं तब से,
जब से इस सूने कमरे में
ढँक ठंडे हाथों से कुम्हलाई आँखों को,
रो रहे विकल तुम फूट-फूट !

ओ दुखी हृदय !
है सत्य, हिमालय सा तुमने दिल पाया था,
है सत्य कि तुमको भाल मिला था सूरज सा,
है सत्य कि छाती थी पठार सी अन्तहीन,
औ' आज सिर्फ़ भग्नावशेष—
बेस्वाद सान्त्वना, धीरज, ढाढस, सब्र, भाग्य
उजियाले की जड़ हँसी,
अँधेरे के आँसू !

मत डरो—!
मैं नहीं घटाऊँगा इस संकट का महत्व,
मैं नहीं तुम्हें समझाऊँगा क़िस्से कहकर,
मैं नहीं तुम्हारे प्यारे आँसू पोछूँगा,
मैं नहीं कहूँगा दर्द घूँट में पीने को।

सच मानो, प्रिय !
इन आघातों से फूट-फूट कर रोने में कुछ शर्म नहीं;

कितने कमरों में बन्द हिमालय रोते हैं,
मेज़ों से लगकर सो जाते कितने पठार,
कितने सूरज गल रहे अँधेरे में छिपकर,
हर आँसू कायरता की खीझ नहीं होता।
मैं केवल इतना कहता हूँ,
इन सूने कमरे की सिसकन से क्या होगा?
बाहर आओ,
सब साथ-साथ मिलकर रोओ!
आँसू टकरा कर अंगारे बन जाते हैं,
फट पड़ते हैं युग-युग के ज्वालामुखी सुप्त,
—शायद धरतो पर पड़ी दरारें मुँद जाएँ।

विद्यावती कोकिल | ६८

गीत

सखि! मुझमें अब अपना क्या है!

घिसते-घिसते मेरी गागर
आज घाट पर फूट गयी है;
बिथर गया है अहं विवश हो,
मुझसे सीमा छूट गयी है,
अब तरना क्या, बहना क्या है!
सखि! मुझमें अब अपना क्या है!
पाप-पुण्य औ, प्यार-ईर्ष्या,
मैंने अपना सब दे डाला;

अर्पण करते ही, मेरा सब
चमक उठा अब उजला-काला;
अब सच क्या औ' सपना क्या है !
सखि ! मुझमें अब अपना क्या है !

अपनी पीड़ाएँ सखि ! तेरे
स्वर्णिम अंचल पर सब लखकर,
मेरी वाणी मौन हो गयी
एक बार अविराम मचलकर;
अब प्रिय से कुछ कहना क्या है !
सखि ! मुझमें अब अपना क्या है !

इच्छाओं के अगम सिन्धु में
जीवन-कारज लहर बन गये;
सुधि का यान चला जाता है;
भय तिर-तिर-कर प्यार हो गये;
पास-दूर अब रहना क्या है ?
सखि ! मुझमें अब अपना क्या है !

ओ, पीड़ा की दिव्य पुजारिन !
तूने जो वरदान दिया है,
तेरा ही तो मधुमय बोझा
बस क्षण भर को टेक लिया है,
मुझको इसमें सहना क्या है !
सखि ! मुझमें अब अपना क्या है !

विद्यावती मिश्र | ६९

गीत

गत वर्षों की भूलों मन सोच रहा है!
नये वर्ष का स्वागत करने के पहले ही
उलझ गया मन उलझी-उलझी-सी बातों में,
जिनके द्वारा स्वप्न लोक में कवि जाता है
उदासीन नीरव सूनी-सूनी रातों में,
तभी अभावों के चिर भाव भरे उद्गम से
करुणा बन करके बंदी मधुमास बहा है!

किससे क्या कहना था पर क्या-क्या कह डाला
कुछ भी कर न सकी यद्यपि क्या-क्या करना था,
उसे अपरचित-सदृश भुलाये रही सदा मैं
जिसके चरणों पर अपना तन-मन धरना था,
किस प्रयास ने जय से मुझको किया अलंकृत
किन कर्मों के कारण मैंने कष्ट सहा है!

सोच रहा है, सोचेगा तो फिर समझेगा
समझेगा तो भूल नहीं फिर दुहरायेगा,
भूल न दुहरायेगा तो अपने जीवन में
बार-बार क्यों धोखा खाकर पछतायेगा,
डूब न जाये नाविक संसृति की झंझा में
नये वर्ष ने आकर उसका हाथ गहा है!

वीरेन्द्रकुमार जैन

७०
गोरे गुलाबी नाखून से

गोरे गुलाबी नाखून से छिलती नारंगी,
फूटती सुगंधा रस-नीहार
समय के आरपार :
रसा की आदिम रस धार,
आगामी प्रभात की बादामी किनार !
कल्प-लता उर्वशी के आलिंगन का
चिर किशोर इकरार।
पेरिस की मोहिनी सन्ध्याओं की मायावी बहार।
रसा की आदिम रसधार :
नन्दन के फूलों की
अप्सरा-अङ्ग-केलित गंधानिल।
रोम के फुलेलों की
बन्दिनी ख़ुशबू
फूट पड़ी मुक्ति के आकाश में,
स्पार्टाकस* की जंजीरें तोड़ती
भुजाओं के लोक में :
स्पार्टाकस की
अमर जीवन वासना के अनन्तों में।
गोरे गुलाबी नाखून से छिलती नारंगी।

*रोम के गुलाम-विद्रोह का नेता।

वसुन्धरा की चिर कुँवारी साध,
युग-युगान्तर में नित-नवीन-विश्वों की रचना,
नव-नवीन रूप रङ्गों की भास्वर लीला।
वसुन्धरा की चिर कुँवारी साध,
बनती ही गई जो अशेष अगाध।
असंख्य मानव-युगलों की प्रणय-लीला में
उमड़ रही जो मरम की रस-राशि
चिर नूतन,
उसी का परिचय-परस :
प्रिया की गोरी मोतिया अँगुलियों बीच
छिलती-भूलती नारङ्गी की
रस-भीनी फुहार में।

क्षण-क्षण बदलते भूगोल में
पास खिंच आते खगोल की
नाचती रत्न-प्रभ तरङ्ग माला।
जिसमें आगामी युगों और लोकों का
अकल्पित उजियाला।
जिसमें आदिम ज्योतिर्धर मानव के
नयनों का पारगामी अलोक,
और उसके अंगों में आलोड़ित
वासना के सागर।
भीतर विश्वामित्र की निर्विकल्प समाधि,
और बाहर मेनका का दुर्निवार रमण-लास्य।

जिसमें वैदिक ऋषियों की सोम-रस-झारियाँ
और उनके मंत्र-दर्शन की मुक्त ऊषा।

जिसमें मानव-रक्त में तैरते
यूनानी महलों की दावतों में
उपल पात्रों में सजे फलों की छाया।
जिसमें सामन्ती विलास की
इत्रों में डूबती-उतराती नशीली रातें :
मुग़ल शहज़ादियों के कबूतरी सीनों की
सुगंधों में दफ़न होती हसरत भरी आहें,
जिसमें ज़ेबुन्निसा की कविता की दर्दीली निगाहें।
जिसमें कालिदास के मेघदूत के
बादलों में बिखर-बिखर जाते भव्य सपने :
रूप ले रहे जो आज
मानव की भुजाओं-बँधी—
भारत की गंगा में,
सोवियत की वोल्गा में,
नये चीन की हुई नदी की
दुर्दाम विद्युत् तरङ्गों में।
साकार हो रहे जो स्रष्टा मानव की
युगान्तर-गामिनी हथेलियों पर!
गोरे गुलाबी नाख़ून से
छिलती नारंगी से फूटती—
छूटती रस की संवेदन-फुहार,
समय के आर-पार,
मेरे किशोर प्यार से लगा कर,
आणविक युद्धों की
अकल्पित नाश-लीला के आर-पार :
इस हायड्रोजन बम की सत्यानाशिनी ललकार

के मस्तक पर लहराते,
शान्ति के नये प्रभात सागर पर
मानव की नई दुनिया की
कल्याणी जयजयकार।
कि भू और द्यू के आलिङ्गन—
सिंधु-मंथन पर,
एक नई हेमवती, कल्पवती
पृथ्वी का आविर्भाव,
परिपूरित हुए जहाँ मानव के चिर अभाव।
तुम्हारे गोरे गुलाबी नाखून से छिलती
नारंगी की सुगंधा रस-नीहार:
समय के आर-पार,
चिर प्रगतिमान पूर्ण चेतना का
मुक्त अभियान, अभिसार।

वीरेन्द्र मिश्र | ७१

गीत

आँख अब भी भरी की भरी
काँखती बज रही बाँसुरी
राग आसावरी

प्यास, किसको निरखती कहाँ
आस, चुप-चुप सरकती कहाँ

दृष्टि में चुभ रही कंकरी
डोलते हैं पलक सन्तरी
भर गई गागरी

साल पर साल आए गए
सुख पुराने गए, दुख नए
आज शायद डगर आख़िरी
सावधानी लिये शायरी
गीत में माधुरी

ज़िन्दगी है असम्मान की
बाग़ में रो रही जानकी
है न अब भी दशानन सही
देख मन्दोदरी कह रही
रूप अन्तर्मुखी आसुरी
प्रीति-गोरी-परी नागरी

शंभुनाथ शेष | ७२
रुबाइयाँ

संगीत की ध्वनि वायु में जैसे मचलती !
या पिछले पहर रात अमृत में ढलती !
यों ध्यान में यौवन के थिरकता है रूप :
ज्यों स्वप्न की परछाईं नयन में चलती !

ज्यों सोम सरोवर में हृदय-हंस का स्नान!
ज्यों चाँदनी लहरों में बाँसुरी की तान!
मुग्धा के मृदुल अधर पै यों साध की बात :
ज्यों ओस-धुले फूल की पावन मुसकान!

शंभूनाथ सिंह | ७३

पगडंडी

छिप-छिपकर चलती पगडंडी धनखेतों की छाँव में!
अनगाये कुछ गीत गूँजते
हैं किरनों के हास में,
अकुलाई सी एक बुलाहट
पुरवा की हर साँस में!
सूनापन है उसे छेड़ता छू आँचल के छोर को,
जलखाते भी बुला रहे हैं बादलवाली नाव में!

अंग-अंग में लचक, उठी ज्यों
तरुणाई की भोर में
नभ के सपनों की छाया को
आँज नयन की कोर में,
राह बनाती अपनी कुस-काँटों में संख-सिवार में,
काँदो-कीच पड़े रह जाते लिपट-लिपटकर पाँव में!

पाँतर पार धुँवारी भौंहों
की ज्यों चढ़ी कमान है,

मार रहा यह कौन अहेरी
सधे किरन के बान है ?
रोम-रोम ज्यों चुभे तीर, टूटी सीमा मरजाद की,
सुध-बुध खो चल पड़ी अचीन्हे अपने पी के गाँव में !

रुनझुन बिछिया झींगुर वाली
किंकिन ज्यों बक-पाँत है,
स्वयंवरा बन चली बावरी
क्या दिन है क्या रात है ?
पहरू से कुछ पीली कलँगीवाले पेड़ बबूल के
बरज रहे, री पाँव न धरना भोरी कहीं कुठाँव में !
अपना ही आँगन क्या कम जो चली पराये गाँव में;

शकुंत माथुर

७४
मध्यवर्ग

हूँ निर्मोक हूँ निर्मूल
अनुरक्ति कहाँ किसी वस्तु से
हूँ त्रस्त त्यक्त
हूँ सुखविहीन
दुख सहता हूँ
बड़वानल में पलता हूँ
बढ़ता हूँ
काल भुजंगों के फैले फन के नीचे

मेरा निवास।
हूँ नीलकंठ
विष पीता हूँ
जीवन से मृत्यु भली
त्यौहार मुझे आतंकित करते
आज चहल-पहल से दरवाज़े बन्द
मेवा मिष्ठान्न मधुर पकवान
परिधान बनाने को यह
बाधित करते
लोक लाज जो मुँह खोले
फिर रही आज आगे पीछे
बन्द द्वार के
मुझको खाने के अथक यत्न में।
सहचर लगते प्रेत
आते पीते हैं चाय गरम
प्याले पर प्याले
मोटे टोस्ट लगे मक्खन से
नीचे फिसले
एक दो छः सात
नहीं गिनने की आवश्यकता
जैम चाहिए
आज जैम मैं स्वयं हो रहा
जीवन जोहड़
निज दुसाध्य दशा से मुँह मोड़
मेंढक सा बैठा
कंटकहार कुटुम्ब मुझे
मेरी नस नस को खींच

बनाता हार प्रसन्न
मेरे ही तन के बच्चे
रक्त के टुकड़े
निचोड़ रहे कपड़ा सा मुझको
प्रतिपल
दिन गिनता हूँ
साँस छोड़ गहरी
मृत्यु को आमंत्रित करता
सोच रहा मैं फिर भी
हूँ देवदूत
हूँ बीजमंत्र
हूँ देववृक्ष
कृश मध्यवर्ग।

शमशेर बहादुर सिंह | ७५

ग़ज़ल

कहो तो क्या न कहें, पर कहो तो क्योंकर हो,
जो बात-बात में आ जायँ वो, तो क्योंकर हो!

हमारी बात हमीं से सुनो तो कैसा हो,
मगर ये जाके उन्हीं से कहो तो क्योंकर हो!

ये बेदिली ही न हो संगे-आस्तानए-यार,
वगरना इश्क़ की मंज़िल ये हो तो क्योंकर हो!

क़रीबे-हुस्न जो पहुंचा तो ग़म कहाँ पहुँचा—
हमीं को होश नहीं, आपको तो क्योंकर हो !

ख़याल हो कि मेरे दिल का वह्म हो, आख़िर
तुम्हीं जो एक न अपने बनो, तो क्योंकर हो !

ज़माना तुम हो—जहाँ तुम हो—ज़िन्दगी तुम हो,
जो अपनी बात पे क़ायम रहो, तो क्योंकर हो !

हमारा बस है कोई, आह की, हुए ख़ामोश,
मगर जो ये भी सहारा न हो तो क्योंकर हो !

हरेक तरह वही आरज़ू बनें मेरी,
ये ज़िन्दगी का बहाना न हो, तो क्योंकर हो !

ये सच सही है मगर ऐ मेरे दिले-नाशाद,
कोई भी ग़म के सिवा दोस्त हो तो क्योंकर हो !

ये साँस में जो उसी नाम की अटक सी है,
वो ज़िन्दगी से फ़रामोश हो तो क्योंकर हो !

जो आरज़ू में नहीं, अब वो साँस में कुछ है,
वो, आह, दिल से फ़रामोश हो तो क्योंकर हो !

हज़ार हम उसे चाहें कि अब न चाहें और,
जो साँस-साँस में रम जाय वो, तो क्योंकर हो !

शांति | ७६

कितने सपने

कितने सपने ?
उतने ही, जितने जीवन में
सगे-सहोदर, साथी
अपने !
कितना दुख ?
उतना ही, जितना इस मन ने
माँगा है इस जगती से
सुख !
कितनी आशा ?
जितनी मन में मौन निराशा
की उलझी, लिपटी
परिभाषा !

शिवबहादुर सिंह | ७७

गीत

पुरवा जो डोल गई,
घटा घटा आँगन में जूड़े-से खोल गई ।

बूँदों का लहरा दीवारों को चूम गया,
मेरा मन सावन की गलियों में झूम गया;
श्याम-रंग-परियों से अम्बर है घिरा हुआ;
घर को फिर लौट चला बरसों का फिरा हुआ;
मइया के मंदिर में,
अम्मा की मानी हुई—
डुग-डुग, डुग-डुग-डुग, बधइया फिर बोल गई।
पुरवा जो डोल गई।

बरगद की जड़ें पकड़ चरवाहे झूल रहे,
बिरहा की तानों में बिरहा सब भूल रहे;
अगली सहालक तक ब्याहों की बात टली,
बात बड़ी छोटी पर बहुतों को बहुत खली;
नीम तले चौरा पर,
मीरा की बार बार—
गुड़िया के ब्याहवाली चर्चा रस घोल गई।
पुरवा जो डोल गई।

खनक चूड़ियों की सुनी मेंहदी के पातों ने,
कलियों पै रँग फेरा मालिन की बातों ने;
धानों के खेतों में गीतों का पहरा है,
चिड़ियों की आँखों मे ममता का सेहरा है;
नदिया से उमक उमक,
मछली वह छमक-छमक—
पानी की चूनर को दुनिया से मोल गई।
पुरवा जो डोल गई।

झूले के झूमक हैं शाखों के कानों में,
शबनम की फिसलन है केले की रानों में;

ज्वार और अरहर की हरी हरी सारी है,
सनई के फूलों की गोटा किनारी है;
गाँवों की रौनक है,
मेहनत की बाँहों में—
धोबिन भी पाटे पै हइया छू बोल गई।
पुरवा जो डोल गई।

शिवमंगल सिंह 'सुमन'

७८
बात की बात

इस जीवन में बैठे-ठाले
ऐसे भी क्षण आ जाते हैं,
जब हम अपने से ही
अपनी-बीती कहने लग जाते हैं।

तन खोया-खोया-सा लगता
मन उर्वर-सा हो जाता है,
कुछ खोया-सा मिल जाता है
कुछ मिला हुआ खो जाता है।

लगता, सुख-दुख की स्मृतियों के
कुछ बिखरे तार बुना डालूँ,
यों ही सूने में अन्तर के
कुछ भाव-अभाव सुना डालूँ।

कवि की अपनी सीमाएँ हैं
कहता जितना कह पाता है,
कितना भी कह डाले, लेकिन,
अनकहा अधिक रह जाता है।

यों ही चलते-फिरते मन में
बेचैनी-सी क्यों उठती है?
बसती बस्ती के बीच सदा
सपनों की दुनिया लुटती है?

जो भी आया था जीवन में
यदि चला गया तो रोना क्या,
ढलती दुनिया के दानों में
सुधियों के तार पिरोना क्या;

जीवन में काम हज़ारों हैं
मन रम जाए तो क्या कहना,
दौड़ा-धूपी के बीच
एक क्षण, थम जाए तो क्या कहना,

कुछ खाली-ख़ाली होगा ही
जिसमें निश्वास समाया था,
उससे ही सारा झगड़ा है
जिसने विश्वास चुराया था।

फिर भी सूनापन साथ रहा
तो गति दूनी करनी होगी,
सांचे के तीव्र विवर्त्तन से
मन की पूनी भरनी होगी;

जो भी अभाव भरना होगा
        चलते-चलते भर जायेगा,
पथ में गुनने बैठूँगा तो
        जीना दूभर हो जायेगा।

शील

७६

तरुण आकांक्षा

जागते रहो धरा के गीत,
गूँजते रहो सुबह के राग
कर रही है बरबस बेचैन,
तरुण आकांक्षा प्यासी आग,
    देश के शासक जर्जर देह,
    न्याय की नैया डावाँडोल।
    ज़िन्दगी के भूखे अपराध,
    अभी करते हैं युग का मोल।
    विवशता परवशता स्वाधीन,
    बना है जीवन भिक्षा-पात्र।
    सत्य को दीक्षित करने चले,
    घृणा के कुत्सा के जामात्र।
    मृत्यु पर विजयी आशा ज्योति,
    धूप में सुखा रही है बाल।
    ज़िन्दगी संघर्षों के बीच,
    मिटाती युग के काले दाग।

जागते रहो धरा के गीत,
गूँजते रहो सुबह के राग।
कर रही है बरबस बेचैन,
तरुण आकांक्षा प्यासी आग।

बता दे मुझको मेरे देश?
कहीं दुष्काल कहीं सुखभोग।
राज क्यों करते अत्याचार,
पूछते हैं मुझसे सब लोग।
व्यवस्था पिला रही अफ़यून,
मौत छलना के डोरे डाल!
तर्जनी उठा रहे अभिशाप,
लोक मंगल पर क्षुब्ध शृगाल!
सिखायेंगे कब तक अब और;
हमें संक्रामक रोग निदान!
बढ़ चलो पद चापों से अभी,
कुचल जायेंगे विषधर नाग।
जागते रहो धरा के गीत,
गूँजते रहो सुबह के राग।
कर रही हैं बरबस बेचैन,
तरुण आकांक्षा प्यासी आग।

अभी तो धधक रहा है हिया,
न पकड़ो कवि मन को अवसाद।
कर चुका है सब संशय पार,
क्रान्ति गीतों का तूर्य-निनाद।
अभी कुंठित हो उठते प्राण,
माँगते शिशु जब रोटी दाल।

बेचती तरुणी यौवन रूप,
व्यथाओं के हँसते कंकाल।
योजनाओं के फन्दे डाल,
लँगोटी लगा रहे हैं पाप।
कागज़ी घोड़ों के असवार,
राख में मलते अभी पराग।

जागते रहो धरा के गीत,
गूँजते रहो सुबह के राग।
कर रही है बरबस बेचैन,
तरुण आकांक्षा प्यासी आग।

अभी भक्षक के रक्षक बने,
काल बाहन रचते भूदान।
बाँधते अभी पतन के जन्तु,
देश का आन्दोलित उत्थान।
देश के बाहर जयजयकार,
देश के भीतर हाहाकार।
हमें क्या करलें कुछ दिन मौज,
छान कर धोती से अंभार।

बुझेगी सचमुच प्यासी आग,
तरुण आकांक्षा मेरी ठहर।
समय के झोकों में भी अडिग,
बली है जीने का अनुराग।

जागते रहो धरा के गीत,
गूँजते रहो सुबह के राग।
कर रही है बरबस बेचैन,
तरुण आकांक्षा प्यासी आग।

८०

शेखर

अब न बुला रे, प्राण-पपिहरे

अब न बुला रे, प्राण-पपिहरे;

आये मेघ, चले जायेंगे!

उस दिन जब उड़-उड़ कर तूने मधुमय गीत मिलन के गाये,
आया एक पवन का झोंका, बादल क्षण भर ठहर न पाये,
जाने क्या उस दिन कह डाला, रूठ गया अम्बर अभिमानी-
उड़ने लगी धूल उपवन में, लू के अग्नि-बाण मँडराये।
आज न बोल, नहीं मधुवन में फिर पतझार उतर आयेगा।
तेरी नासमझी के मारे,

ये सारे तरु कुम्हलायेंगे।

देख तनिक इस फुलबगिया को, पात-पात हैं ढीले-ढीले,
देख तनिक प्यासी कलियों को अधर हो गए पीले-पीले
बैठे हैं कितनी आशा से विकल विहग चोंचें फैलाये,
सुन, शुक-पिक की घायल वाणी, मैना के स्वर गीले-गीले।
सबकी प्यास बुझानेवाले यह नद-नार स्वयं प्यासे हैं—
तू तो प्यासा ही जी लेगा-

पर यह तृषित न जी पायेंगे।

कोकिल को भर-भर कर पैंगे-कजली-सावन गा लेने दे,
विसुध मोर को पर फैलाकर मेघ-मलार सुना लेने दे,
अपनी पीर दबा ले उर में, कहीं न अधरों पर आ जाये,

दुखियारे विहगों को अपने उजड़े नीड़ बसा लेने दे!
यदि तू बोल पड़ा तो पल में, आ जायेगी काली आँधी,
पुरवैया के शीतल झोंके-
रेगिस्तान उड़ा लायेंगे।
तेरा तन बन गया वज्र का, सह-सह कर यह पीर पुरानी,
तूने नित तूफ़ान बुलाये कह-कह कर दुख-भरी कहानी,
तेरे इस करुणा-क्रंदन पर अब जग को विश्वास न होगा-
तेरा तो बन गया तृप्ति-जल बह-बह इन नयनों का पानी।
यह न समझ ये श्याम घटायें तेरे लिये यहाँ आई हैं-
याद न कर, दृग मूँद भुला दे,
लौट न बीते दिन आयेंगे।

श्रीकान्त वर्मा | ८१

दूज का चाँद

चाँद दूज का,
जैसे किसी सुन्दरी की सुकुमार
कलाई का टूटा चाँदी का कंगन
गिरा हुआ आकाश मार्ग पर
जिससे हर ले गया सुन्दरी को
कोई ज़ुल्मी रावण रथ पर बैठाकर।
चाँदी की है झील-ज्योत्स्ना
उतर दिशाओं की परियाँ
उतार कर अंधकार का चीर नहातीं

और स्वप्न की किश्ती खेती नींद
चली जाती अनजाने स्वर्गंगा की ओर
चाँद दूज का
जैसे बंग सुन्दरी की वेणी में
सज्जित क्लिप चाँदी का
जिसे चूमने चला आ रहा
मस्ती में बादल लहराता
पूर्व दिशा से मलय चला है
ऐरावत सा
कुसुम झील से सुवास जल भर
भू लक्ष्मी पर,
सूँड़ उठा कर गंध छिड़कता।
चाँद दूज का
किसी कंजड़िन के रूमाल सरीखा।
तारों के कंजड़
क्षितिजों के ताल किनारे,
अंधकार-जंगल में गाड़े
नीलगगन का खेमा, बैठे
ताप रहे अलाव ज्योत्स्ना का।
नक्षत्रों की भेड़ चराती
चली जा रही रात-पहाड़िन
पच्छिम की सोई घाटी को
वह हँसिये सा चाँद दूज का,
चला जा रहा नाल-काटने,
क्षितिज प्रसविनी की माटी को।
जन्म ले रहा है प्रभात शिशु।
जब नये सूर्य के आने से

सतीशदत्त पाण्डेय

८२
सुबह के सपने

पहले किरनें
आने लगती हैं, रचती
नूतन आसमान,
आलोक नया बिखरातीं जग के
कन-कन में
नव-नभ के नव विहगों को देतीं
नये गान,

क्षितिजों से आती हुई हवा
बहने लगती,
बिखराती फूली कलियों का
सौरभ, सुवास
होनेवाले दिन की बातें
कहने लगती,
आलोक फैलता आता है
जब अनायास।

ऐसी बेला में
जो पलकों पर आते हैं,
दिन होने पर
वे सपने, सच हो जाते हैं।

सर्वदानन्द | ८३

करो सिन्धु बिन्दु विलय

कंपित, वंजुल तन, मंजुल मन, यौवन चंचल,
नौ-बंधन-कील-रहित तरणी, भव-सिन्धु विकल।
गहो मीत, बाँह सदय!

भ्रम मय चिंतन शोचन, भ्रमित ज्ञान, अथिर चरण
दुर्दम तम-तोम-जाल, अगम दुसह काल-क्षण,
आगत अनजान, दुखद, सुखद गत-स्मरण मरण।
वर्तमान करो विजय!

जागें नव-स्तव, अहरह, रत नित चरणारविन्द,
मदमय संकेत-दान काटे दिक्-काल-बंध,
शरणागत आरत जन स्मितकांक्षा नित अमन्द।
करो, बन्धु, करो अभय!

प्लावित घन-धाराधर, उच्छल जीवन-सागर,
वात-वसन भीन अमित, क्षेपण-गति अति दुस्तर,
संशय-भय-दीन-द्विपद, केवट तट अन्ध-गहर।
करो सिन्धु बिन्दु विलय!

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

८४
नए वर्ष पर

वे नन्हीं पंखुरियाँ
जिनके रेशों में
ताजगी का रस
अभी पूरी तौर से प्रवाहित नहीं हुआ है,
वे रंग जो अभी बिखरे नहीं हैं,
यह सुरभि जो अभी
अपने में ही कसी लिपटी है,
मैं वसीयत करता हूँ
इस नए वर्ष के नाम......

मैं वे गमले सौंपता हूँ
जिनमें बीज डाले गये हैं,
वे अंकुर सौंपता हूँ
जिनमें पत्तियाँ निकल रही हैं,
वे पौधे सौंपता हूँ,
जिन्होंने कलियों के मुँह खोले हैं,
वे फूल सौंपता हूँ
जो रस और गंध की अंजलि भरे हुए खड़े हैं,
वे फल सौंपता हूँ
जो अपनी जाति की रक्षा के लिए
मिट्टी में मिलकर

फिर असंख्य अंकुरों के रूप में
फूट पड़ने की प्रतीक्षा कर रहे हैं
मैं इस नए वर्ष को
वे हजारों लाखों करोड़ों उद्यान सौंपता हूँ
जो रङ्ग-बिरंगे पाखियों के मधुर कलरव
और थके बटोहियों के
विश्राम-गीतों की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

नया वर्ष......
जो यह अनुभव करा सके
कि उसका हर क्षण नया है
हर घण्टा, हर दिन, हर सप्ताह,
हर माह नया है।
जिसका नया धन
एक वर्ष की गहरी नींद के बाद
चौंककर जगी हुई
एक क्षणिक अनुभूति मात्र ही न हो,
जिसका नया धन
किताबों की धूल झाड़कर
उन्हें क़रीने से सजा देने
मेज़ का मेज़पोश बदल देने
खिड़कियों और दरवाज़ों के परदे
परिवर्तित कर देने के समान ही
क्षणिक स्फूर्ति और क्षणिक ताज़गी
का ही मात्र द्योतक न हो,
जिसका नया धन
ओस की बूँदों के समान न हो

जो देखते ही देखते उड़ जाती हैं
कुहरे के जाल के समान न हो
जो बातों-बातों में ही छँट जाता है।
मैं कामना करता हूँ
कि नया वर्ष
नयेपन की इस अनुभूति को
वर्ष भर जिला सके
उसकी आँखों में उत्सुकता का
काजल भर सके
उसे हर क्षण अधिक स्वस्थ
अधिक सुन्दर बना सके।

नया वर्ष......
लोहारों की दहकती हुई भट्ठियों से
भोर का आलोक फैला सके,
काष्ठशिल्पियों के रन्दों और बसूलों से
राजगीरों की छेनियों और हथौड़ों से
भोर का संगीत गुँजा सके।

नया वर्ष......
धोबियों के पाटों में
मल्लाहों के डाँड़ों में
गति के घुँघरू बाँध सके।
नया वर्ष......
उन तमाम खेतों में गा सके
जहाँ हरी फसलें हों,
उन तमाम खलिहानों में नाच सके

जहाँ पकी बालियाँ हों
उन सभी घरों में सज सके
जहाँ अन्न की ढेरियाँ हों,
उन सभी दिलों में सो सके
जहाँ सुख और शान्ति हो।
नया वर्ष सबका हो
हर घर का, हर खेत का
हर खलिहान का, हर दिल का।

सिद्धेश्वर अवस्थी

८५
गीत

मुकुल दल खोलो सुरभित द्वार।
दूर-क्षितिज की लघु शैया पर,
ऊषा जागी, विहँसा अम्बर।
बिखरा वैभव उदयाचल का,
सरिता के ढुलमुल जल कन पर
उज्ज्वल जग का कोना-कोना, ओ मेरे सुकुमार।
अलसित निशि को बाँध पाश में,
सिक्त कुमुद डोले लहरों पर।
आकुल अलिनि मलिन सी बैठी,
प्यास लिए अपने अधरों पर।
निज नूतन मकरंद बिंदु से, प्लावित कर संसार।

सुधीन्द्र | ८६

मिलन बेला में

संगीत-सुधा है झरता कण्ठ तुम्हारा,
मेरे उर से कविता होती है द्रविता,
दोनों मिलकर ये एक-राग हैं प्राणे !
ये हुईं प्रेम से दोनों ही संभविता !
मेरे प्राणों का प्रेय मधुर तुम गातीं,
यह प्रीति तुम्हारी कविता में ढल आती,
मैंने तुमको संगीत दिया है शोभे,
तुमने मुझको दी है यह मेरी कविता !

अपने मन के सब रंग अंग में भर कर
तुम कुशल कलाविद् चित्रकरी बाला-सी
अपनी पुतली के कोमल चित्र-पटल पर
तुम हो मेरी खींचती चित्रमाला-सी !
नयनों में कोई चित्र कहाँ रह पाया ?
निज हृदय-कक्ष में तुमने उन्हें सजाया।
तुमने जाना मैंने उसको पहिचाना,
सज गई वहाँ जो रुचिर चित्रशाला-सी

सोचा है तुमने प्रिये, कभी क्या मन में
हम क्यों आये हैं पृथ्वी पर अनजाने!
मैंने देखा है सृष्टि-सृजन के पीछे
मैंने हैं अपने रूप आज पहिचाने
था हुआ स्वर्ग से भ्रष्ट न कोई मानव
निश्चय ही वह तो होगा कोई दानव
हम तो स्रष्टा के दो हाथों से आये
दुखमय धरती पर सुखमय स्वर्ग बसाने!

सुमित्रा कुमारी सिनहा | ८७

बोलों के देवता

बोलों के देवता!
बोल कुछ ऐसे बोलो!

ऐसे बोल कि
जिनके शब्दों में अमरत्व-सिन्धु लहराए,
ऐसे बोल कि
जिनको सुनने उच्च हिमालय शीश उठाए
ऐसे बोलो: युग की साँसों में लय की मधुता तुम घोलो!

सूझों के अंकुर
उन्मादों की उर्वर धरती पर फूटें,

कहीं न कोमल कला-कुसुम
नव कठिन ज्ञान के हाथों टूटें,
अन्तरात्मा-कलाकार ! मत, निज को बुद्धि-तुला पर तोलो !

करो मूकता की अर्चा
तुम व्यथा-अश्रुओं को न गिराओ,
उन्मादी बलिदान-पंथ पर
फूलों जैसे शीश चढ़ाओ,
वाणी-घट में भरे वेदना रस, जीवन-सिंचित कर डोलो !

बोलों के देवता !
बोल कुछ ऐसे बोलो !

सुमित्रानंदन पंत

८८

यह धरती कितना देती है

मैंने छुटपन में छिपकर पैसे बोए थे,
सोचा था, पैसों के प्यारे पेड़ उगेंगे,
रुपयों की कलदार मधुर फ़सलें खनकेंगी,
और फूल फलकर मैं मोटा सेठ बनूँगा।

पर बंजर धरती में एक न अंकुर फूटा,
बंध्या मिट्टी ने न एक भी पैसा उगला !
सपने जाने कहाँ मिटे, सब धूल हो गए !
मैं हताश हो बाट जोहता रहा दिनों तक

बाल कल्पना के निज अपलक बिछा पाँवड़े!
मैं अबोध था, मैंने ग़लत बीज बोए थे,
ममता को रोपा था, तृष्णा को सींचा था!

अर्धशती हहराती निकल गई है तब से!
कितने ही मधु पतझर बीत गए अनजाने—
ग्रीष्म तपे, वर्षा झूलीं, शरदें मुसकाईं,
सी-सी कर हेमंत कँपे, तरु झरे, खिले बन,
औ' जब फिर से गाढ़ी ऊदी लालसा लिए
गहरे कजरारे बादल बरसे धरती पर,
मैंने, कौतूहलवश, आँगन के कोने की
गीली तह को यों ही उँगली से सहलाकर
बीज सेम के दबा दिए मिट्टी के नीचे!—
रज के अंचल में मणि-माणिक बाँध दिए हों।

मैं फिर भूल गया इस छोटी सी घटना को!
और बात भी क्या थी जिसे याद रखता मन!
किंतु, एक दिन, जब मैं संध्या को आँगन में
टहल रहा था—तब सहसा मैंने जो देखा
उससे हर्ष-विमूढ़ हो उठा मैं विस्मय से!
देखा, आँगन के कोने में कई नवागत
छोटी-छोटी छाता ताने खड़े हुए हैं!
छाता कहिए, विजय पताकाएँ जीवन की,
या हथेलियाँ खोले थे वे नन्हीं प्यारी,—
जो भी हो,—वे हरे भरे उल्लास में भरे
पंख मारकर, उड़ने को उत्सुक लगते थे,—
डिम्ब तोड़कर निकले चिड़ियों के बच्चों से!

आः, इतनी फलियाँ टूटीं जाड़ों भर खाईं,
सुबह शाम घर-घर में पकीं, पड़ोस पास के
जाने अनजाने सब लोगों में बँटवाईं,—
बंधु बांधवों, मित्रों, अभ्यागत, मँगतों ने,
जी भर-भर दिन रात मुहल्ले भर में खाईं
कितनी सारी फलियाँ, कितनी प्यारी फलियाँ!

यह, धरती कितना देती है! धरती माता
कितना देती है अपने प्यारे पुत्रों को!—
नहीं समझ पाया था मैं उसके महत्त्व को
बचपन में!—छिः स्वार्थ लोभ वश पैसे बो कर!

रत्न प्रसविनी है बसुधा, अब समझ सका हूँ
इसमें सच्ची समता के दाने बोने हैं,
इसमें जन की क्षमता के दाने बोने हैं
इसमें मानव ममता के दाने बोने हैं—
जिससे उगल सके फिर धूल सुनहली फ़सलें
मानवता की—जीवन श्री से हँसे दिशाएँ
हम जैसा बोएँगे, वैसा ही पावेंगे।

८६
पूस

सुरेन्द्रकुमार दीक्षित

सूरज डूबे कुछ देर हुई
पर रात अभी से है गीली,

ठंडक तारों तक व्याप्त हुई,
पड़ गई ज्योति उनकी नीली।

कुहरे का पर्दा गिरा और
पीछे छिप गये दृश्य सारे,
आकार प्रकट कुछ पेड़ों का
जो ठिठुरे जाते बेचारे।

धुँधली पीली चाँदनी
कि ज्यों क्षय का दुबल रोगी कोई
अपने से ही हो ऊब चुका—
धरती पर थकी हुई सोई!

था घर-घर से जो उठा धुआँ
वह मार कुंडली छितराया,
लेकिन ठंडक ने पकड़ उसे
है महाशून्य में लटकाया!

सारे धंधे हो चुके ख़तम
सारी बस्ती में साये पड़ी,
खटका मिलता कोई न कहीं
मौनी साधी कुत्तों ने भी!

पर उस गन्ने के कोल्हू पर
है अब भी थोड़ी-सी जगहर,

कुछ गर्म 'मई' के लालच में
बैठे हैं थोड़े जन जमकर।

ये अर्धक्षुधित, अभावग्रस्त,
हैं वस्त्र नहीं इनके तन पर,
मिल सके आँच थोड़ी ज्यादा
बैठे हैं भट्टी से सटकर!

ये रात काट देंगे ऐसे—
बस चिलम पियेंगे खाँ-खाँकर
बारी-बारी से ऊँघ-जाग
बैलों के पीछे दे चक्कर!

जाने अब दिन कब आयेगा
फिर मीठी गरम धूप लेकर?
चल रही रात इतने धीरे
मानों लादे बोझा सिर पर!

सुरेन्द्र तिवारी | ६०
गीत

मेरे जीवन का दर्द न गायेगा
चाहे जितना भी मन घबरायेगा

मुझको कुछ ध्यान तुम्हारा भी तो है
वैसे तो घायल दिल कुछ गाता ही
दुनिया को अपना दर्द सुनाता ही
पर फूट न पायेंगे अब स्वर मेरे
मर्यादा ने सी दिये अधर मेरे
अधरों पर कोई गीत न आयेगा
जो तुम्हें दूर से पास बुलायेगा
संयम का मुझे सहारा भी तो है

मुझको दीवाना किया बहारों ने
अहसान किया है मुझ पर तारों ने
जिसकी मुझको हर बात सुहाती है
चाँदनी गीत मुझ पर बरसाती है
तुम कहाँ चाँद के पास न जाऊँगा
अँधियारे में चुप हो सो जाऊँगा
मुझ पर अहसान तुम्हारा भी तो है

चाँदनी सभी को पास बुलाती है
मैं ही क्या सारी दुनियाँ गाती है
कुछ तो गीतों से मन बहलाते हैं
कुछ घाव समय से खुद भर जाते हैं
बेहोशी है चन्दन की छाहों में
है मौन अगर फूलों के गाँवों में
जीने के लिए इशारा भी तो है
जो फूलों औ' भ्रमरों पर छाई है
काँटों ने वह तक़दीर बनाई है
पर फूल जिसे भी पास बुलाते हैं

काँटे खुद उनकी राह बनाते हैं
कैसे न सभी अवरोधों पर छाऊँ
क्या करूँ तुम्हारे द्वार न जो आऊँ
तुमने फिर मुझे पुकारा भी तो है

सोहनलाल द्विवेदी

९१
मन विहंग

उड़ गया हमारा मन विहंग।
अलकों की नीलम छाया में
पलकों का नीड़ मिला सुरंग।
अधरों के तट का अमृत पी
आना न सोचता इधर कभी
कोमल कपोल के प्रांगण में
खेला करता भर-भर उमंग।
उड़ गया हमारा मन विहंग।
आकाश रूप का वह पाया,
जिसका न क्षितिज वह बन पाया,
श्वासों के सुरभित मलयज में
उड़ता ले यौवन की तरंग।
उड़ गया हमारा मन विहंग।
मानस शतदल के नवरस में
मधु पीकर रहा नहीं वश में
क्यों बात मानने लगा आज,
मद पी के होते और ढंग।
उड़ गया हमारा मन विहंग।

हंसकुमार तिवारी

६२
अनकही बात

कहनी थी सो रही अनकही बात।

इतनी बड़ी पड़ी यह दुनिया, इतना बढ़ा अकास;
इतनी खुली बयार खेलती, इतना खिला प्रकाश
पर जीवन के अंकुर दो-दो साँसों को अकुलाये
पी-पी पनप रहे माटी की उबली हुई उसाँस
द्वंद्वमयी इस करुण-मधुर सुषमा ने मुझे पुकारा;
किरण बिछाते गया प्रात, ओसों में रोती रात।

बँधे-बँधे-से मिले चरण दो गगन सुगामी मन को
जाग्रत ज्वालामुखी हृदय में, ऊपर सजल नयन दो
चला आग-पानी में जीवन जलता-बुझता आगे
लगा छाँह-सा पीछे-पीछे अकरुण चला मरण लो
इस असहाय विवशता ने जीवन की मुझे पुकारा
अधरों पर अरुणिमा उदय की, आँखों में बरसात।

फिर हो गयी थिरक आँखों में आशा अगिन अधूरी
पार न कर पायीं सपनों के नील-कमल की दूरी
कुछ निश्वासों में बिखरे उभरे उल्लास हृदय के
खिंची एक मुसकान मौन, कह गयी कहानी पूरी
भाषा हीन निराशा ने उस चुपके मुझे कारा
हँसते रहे ओंठ झरते ही रहे सुनैन प्रपात।

सरस नेह के सावन-फागुन से श्यामल अमराई
विरह-मिलन से पीड़ित पुलकित कूज रही तरुणाई,
किरणें बिछीं खिंची आयी चाँदनी चाँद से छिटकी।
उझक झाँकने लगा स्वर्ग उस शोभा में परिछाई
अतुल रूप के व्यथाविद्ध प्राणों ने मुझे पुकारा
धुलते गये दीप, खिलते आये सिमटे जलजात।

माँग रहे ये अनगिन उजड़े प्राण प्रेरणा, आशा
कोटि-कोटि अवरुद्ध कंठ आवाहन की नव भाषा
रेखा रंग अरूप माँगते, गीत अगीत रहे जो
माँग रहा है जीवन अपनी आज नयी परिभाषा
अनदेखे अनजान अबोले ने फिर मुझे पुकारा
तिरने लगे खुली आँखों के सपने में अज्ञात।

उस समाधि पर नयी जोत की शिखा एक जो जागी
तूफानों से उलझ-सुलझकर नयी जुगाये आगी
तम के काजल काले ओठों खींच कनक की रेखा
नयी पौद के नये प्रात को जाग रही अनुरागी
उदय अचल की अनुरंजित आभा ने मुझे पुकारा
कोंपल मुसकायी, आँसू-से टपके पीले पात।

हृषीकेश | ६३

हवा बह रही

हवा बह रही
स्वर आता है;

मानो दूरागत शिथिलगामिनी
का उन्मुक्त केश लहर-लहर लहराता है।
बढ़ रहा झुटपुटा
दिन भर दाने चुग-चुगकर अब
कुछ दिन आछत ही
बाँसों के झुरमुट से विहग उड़ चले,
मीलों उड़-उड़ कर
पंख खोल कर
जी भर गा कर
पहुँच जायँगे वहाँ
जहाँ उनके नन्हें नन्हें
दुधमुँहें लाल—
जिनकी आँखें भी नहीं उगी हैं,
जोह रहे होंगे पथ
जो आहट पाते ही
झाड़ उठेंगे अपनी अधकचरी पाँखें,
तब ठोर खोल कर उनके
रख देंगे दाने दो चार सँजोये—
स्नेहातुर वे
जिनके वे हैं।
दुपहर की लू लपटों की आँच गल गई,
उषस् की यह उन्मद सायं
दे रही झकोरे
थिरक रहे
नव दिग्वधु के स्वर प्रान्तर,
फूट रहा अनुराग धरा का,
कुँइयों के जल से सींचे

ईखों के खेतों की भूभुर माटी की
सोंधी-सोंधी बास इधर को चली आ रही
जिसकी बिछलन का सुखद स्पर्श
शिराओं में सिहरनमय,
भर रहा पुलक
लोकोत्तर वर। उधर मेंड पर
अब, उपले के अंगारों में
अहरे भी धधक चुके हैं, जिन पर
सिंकने को बन रहीं लोइयाँ।
मन घबराता है
जी आता है, तो
वह मटके का पानी है
मुँह धो लो, पानी ताजा है,
जल्दी भी क्या है, सुस्थिर हो लो
मन रम जाएगा,
हवा बह रही
स्वर आता है
मानों दूरागत शिथिलगामिनी
का उन्मुक्त केश लहर-लहर लहराता है।

त्रिलोचन

९४
माली के छोकरे

माली के छोकरे, माली के छोकरे,
फूल मुझे ला दे बेले के।

बेले की कलियों के गजरे बनाऊँगी
पाँच-पाँच लड़ियों के गजरे बनाऊँगी
हाथों में कंगन गले बीच हार
बालों में होगी लहरिया बहार
पूनम शरद् की रात आज आई है
फूल मुझे ला दे बेले के।

चली गईं मेरी सखियाँ सहेलियाँ
फूलों से भर-भर आई हैं बेलियाँ
छूटे घरौंदे छूटा गुड़ियों से प्यार
छूट गये खेल खिलौने अपार
पूजा की साध आज मेरे मन जागी है
फूल मुझे ला दे बेले के।

देख, लोढ़ लाना न कहीं निरी कलियाँ
खुल-खुल पड़ने को हों ऐसी कलियाँ
जाकर देखना लेना उतार
हौले-हौले हाथों से लेना उतार
कह देना, ऊर्मि तुम्हें न्यौता दे आई है
फूल मुझे ला दे बेले के।